ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला–हिन्दी ग्रन्थाङ्क—६३

'अज्ञेय'

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

प्रकाशक
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

द्वितीय संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

भूमिका

प्रस्तुत संग्रहकी कई कहानियाँ बिल्कुल नई हैं, कुछ पहले पत्रिकाओंमें प्रकाशित हो चुकी हैं और एक कहानी पहले संग्रहमें आ चुकी है। उसे यहाँ संकलित करनेका कारण यह है कि अब वह पहले संग्रहसे निकाल दी जायगी। इस कहानीका नाम बदल दिया गया है; अब जो नाम है वही आरम्भमें रखा गया था और उपयुक्त भी है किन्तु अंग्रेजीसे बचनेके लिए छोड़ दिया गया था।

कहानियोंके बारेमें लेखकका वक्तव्य क्या हो सकता है? उपन्यासके बारेमें तो फिर भी कुछ कहनेकी गुंजाइश होती है, क्योंकि उसमें जीवनका एक दर्शन होता है। कहानियोंके सत्यमें उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षणका, एक मनःस्थितिका सत्य है—एक दौड़ती लहरका गति-चित्र। वह गति-चित्र आपको दीख जाय और देखनेमें आपका मन भी थोड़ी देरके लिए उलझा जाय, तो लेखकको और कुछ नहीं चाहिए।

यों कुल मिलाकर, जीवनके बारेमें मेरे कुछ विचार अवश्य हैं, और मैं यह भी चाहता हूँ कि वे आपको रुचें, क्योंकि जीवनसे, जीनेकी भावनासे, मुझे प्रेम है, और मैं चाहता हूँ कि वह प्रेम आपका अनुमोदन और सम्मान पाये।

—'अज्ञेय'

शारदीया, १९५०

दूसरे संस्करणकी भूमिका

इस नये संस्करणमें एक नई कहानी जोड दी गई है। कहानियोंका आपसमे कोई सम्बन्ध नही होता; पर यह कहानी भी उसी देश-कालकी अनुभूतियोंका फल थी जिसकी सग्रहकी अन्य कहानियाँ, अतः इसका यही आना उचित जान पडा।

जीवनके प्रति मेरा सम्मान दिन-दिन बढ़ा ही है। लेकिन जीवनके प्रति अनेक आयाम सम्पन्न उसके भरे-पूरेपनके प्रति, उसके सुखाये हुए ठट्ठरके प्रति नहीं। पुआलकी जुगाली करते हुए हरे खेतको रौदनेकी कल्पनासे तृप्ति पा लेना मुझे नहीं भाया, न आया ही।

शारदीया, १९५७

—लेखक

यह साक्षी हो कि
पठारके तीतरोंको
नाम पुकारते
मैंने भी सुना है

क्रम-सूची

जय-दोल

पठारका धीरज

ऊँचे-नीचे टीले, खंडहर, मटमैली-भूरी हरियाली, धुँधले छोटे झोंप, अँधेरी खोहें, बिखरे हुए पत्थर, कुछ गोल, कुछ चपटे, कुछ उभरे, कुछ चुभन-से तीखे, दूरपर चपटी लम्बी इमारत की बत्तियाँ, मानो रेलगाडी खडी हो।

ये सब यथार्थ हैं।

फिर पठारका धीरज-भरा फैलाव, दुराव-भरा सन्नाटा, झन-झनाती तेज हवा, चपटे पत्थरोंपर मीनेके-से हरे-चिट्टे-ललौंहे काही के तारा-फूल, उडते-उडते बे-भरोस बादल, तीतरों की चौकी-सी पुकार 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि-त-तुः', दूरपर गीदडका रोने और भूँकनेके बीच का-सा सुर।

ये भी यथार्थ हैं।

लेकिन यथार्थताके स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमें हमारे भावका भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं है, जहाँ भाव ही प्रधान हो, जहाँ तथ्य वहीं पहचाना जाय जहाँ वह व्यक्ति-जीवनके प्रसारमें गहरी लीके काट गया हो, नहीं तो और पहचाननेका कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवनके क्षणका स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसीसे गूँज रहा हो, और कोई ध्वनि न सुनी जा सके?

उस चट्टानों और खडहरोंसे भरे पठारकी खुली, फैली, लचीली, प्रवहमान व्यापकतासे अभिभूत किशोर अगर सहसा सुनता है कि तीतरकी बोली त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि न होकर कुछ और है—क्या है वह ठीक-ठीक सुन लेता है—और उस रेलगाडी-नुमा इमारतकी बत्तियाँ टिमटिमाकर उसे कुछ बहुत न जरूरी सन्देश कह रही है

जो उसे चाँद निकलनेसे पहले सुन लेना है, क्योंकि फीके होते हुए दिग्बिन्दुसे अगर चाँद उभर आया और खडण्हरकी अधूरी मेहराबपर उसकी जुन्हाई पड गई तो न जाने उनकी कौन-सी पोल खुल जायगी—अगर वह यह सब सुनता है, तो क्या उसका सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकताका नया स्तर नही है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तरपर नहीं चलता, हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तरपर अधिक गति या विस्तारकी अपेक्षा अधिक या नये स्तरोंका हठात् जागा हुआ बोध ही नही है ? तीव्र जीवनके क्षण, नई दृष्टि, नये बोधके क्षण, अनेक स्तरोंपर जीवनके स्पन्दनकी द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते है, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है

किशोरने धीरेसे कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है, प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला निःशब्द हँस दी।

"सच, तुम सुनकर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीलाने मानो कान देकर सुना। अबकी वह जरा जोरसे हँस दी,. हाँ, ठीक तो, अगर मानकर अनुकूलतासे सुनें तो सचमुच तीतर उसीका नाम पुकार रहे हैं, 'प्रमीला, प्रमीला !'

उसने धीरेसे किशोरका हाथ अपने हाथमें लेकर दबा दिया।

"और अभी जब चाँद निकलेगा, तब तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराब दीखती है न टूटी हुई, उसका आकार भी ठीक 'प्र' जैसा बन जायगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो।"

प्रमीलाकी आँखें चमक उठीं। उसने कहा, "हाँ, और जब मोर पुकारेगा तो मैं सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर।' और जब चाँद निकलेगा और बादलोंमे रुपहली झालर लग जायगी—"

"हँसी करती हो?"

"नहीं हँसी क्यो करूँगी भला? मै सच कह रही हूँ—ये जो दूर-दूर तक पलासके झुरमुट है, इनकी काँपती पत्तियाँ न जाने किसके-किसके नामोंपर ताल देकर नाचती है, और वह कुण्डके पानी में चक्कर काटती टटीहरी चौंककर न जाने किसे बुलाती है—हम सारा इतिहास थोड़े ही जानते हैं? केवल अपने नाम सुन सके, वह भी इसलिए कि—इसलिए कि—"

"कहो न?"

"इसलिए कि मैं—नहीं कहती। कहना नहीं चाहिए।"

"कहो भी न?"

"इसलिए कि मैं—कि तुम—तुम मुझे—"और प्रमीलाने पास आकर अपनी आवाजको किशोरके कन्धेकी ओट करते हुए कहा, "तुम मुझे प्यार करते हो।"

किशोरका हाथ घेरा हुआ-सा बढ गया, पर प्रमीलाके आस-पास शून्यमें ही एक वृत्त बनाकर खडा रहा।

"और इसी तरह कुँवर राजकुमारीको प्यार करता होगा, और कुडके किनारे मिलने आता होगा, और उसीकी बातें पलासोंने सुन रखी हैं और हवाको सुनाते हैं. "

दूर गीदड फिर भूँका। किशोर तनिक-सा चौंका, प्रमीलाने पूछा, "क्या—कौन है?"

किशोरने भी अचकचाये-से स्वरमे कहा, "कौन है?"

थोडी दूरपर एक स्त्री-स्वर बोला, "तुम लोग वास्तवसे भागना क्यो चाहते हो? कुँवर राजकुमारीको प्यार नहीं करता था।"

"फिर किसको करता था? हाथीपर सवार होकर रोज राजकुमारीसे मिलने आता था तो—"

"अपनी छायाको। चन्द्रोदय होते ही वह कुण्डपर आता था, हाथी पर सवार उसकी अपनी छाया कुण्डके एक ओरसे बढकर दूसरे किनारे नहाती हुई राजकुमारकी जुन्हाई-सी देहको घेर लेती थी। उसी लम्बी बढने वाली छायासे कुँवरको प्रेम था, राजकुमारी तो यों ही उसकी लपेटमे आ जाती थी।"

"ऐसा ? तो वह रोज आता क्यों था ? हाथीको पानीमें बढाकर जब वह दोनों बाहें राजकुमारीकी ओर फैलाता—"

"तुम नही मानते ? मै कुँवरसे ही पुछवा दूँ ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोरने देखा। एक बडी-सी छाया कुण्डके आर-पार पड रही थी—नीचे गोल-सी, मानो हाथीकी पीठ, ऊपर सुघड, लम्बी और नोकदार मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानीमें बढ रहा था। जब गहरेमें उसकी पीठका पिछला हिस्सा पानीमे डूब गया, तब वह खडा होकर पानीमे सूँड हिलाने लगा। कुँवरने एक बार नजर चारो ओर दौडाई, राजकुमारीको न देखकर वह हाथीकी पीठपर खडा हो गया। दोनों हाथोंको मुँहके आस-पास रखकर उसने दो बार मोरके पुकारनेका-सा शब्द किया—"मै-तूः मै-तू·।" और फिर धीरेसे पुकारा, "राजकुमारी! राजकुमारी हेमा।"

स्त्री-स्वरने कहा, "मै जा रही हूँ वहाँ. कुँवरके पास। लेकिन वह मुझे नही, अपनी छायाको प्यार करता था।"

गोरोचनकी एक पुतली-सी कुण्डकी सीढियाँ एक-एक करके उतरने लगी। निचली सीढीपर पहुँचकर वह थोड़ी देर रुकी, देहपर ओढी हुई चादर उसने उतारी और फिर एक पैर पानीकी ओर बढाया। पानीमे चाँदनीकी लहरें-सी खेल गई।

पठारका धीरज

हाथीकी पीठपर खड़े राजकुमारने शरीरको साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानीमे कूद गया, क्षण भरमें तैरकर पार जा पहुँचा, दोनो साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यों हो? तुम्हारा अग-चालन शिथिल क्यो है?"

"नहीं तो। क्या मै बराबर साथ-साथ नहीं तैर रही हूँ?"

"हाँ, पर वह स्फूर्ति नहीं है—तुम जरूर उदास हो—"

"नहीं-नहीं, मैं तो बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गई है–"

"क्या? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया।

हेमाने रुककर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया।"

"कौन—किसके साथ? तुम कैसे मान सकीं?"

हेमाने धीरे-धीरे कहा, "मैं राजकुमारी हूँ। ऐसी बातोंमें राजकुमारियोकी राय नहीं पूछी जाती। साधारण कन्याएँ राय देती होंगी, पर हमारा जीवन राज्यके कल्याणके पीछे चलता है।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसीमे पाना होगा। अपना अलग हानि-लाभ सोचना क्षत्रिय-वृत्ति नहीं है, वैसा तो बनिये—"

"यह सब तुम्हें किसने कहा है?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनों किनारेकी ओर बढ रहे थे। कुँवरने लपककर सीढीको जा पकडा, और बाहर निकलकर उसपर जा बैठा। हेमा भी निकलकर पास खडी हो गयी। शरीरसे चिपकते गीले कपडोंके कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचनका रग और चमक आया था।

दोनो देर तक चुप रहे। फिर कुँवरने कहा, "तो—यह क्या विदा है ?"

हेमाने अचकचाकर कहा, "नहीं, नहीं !"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो। हाथीपर सवार होकर यहाँसे निकलेंगे, फिर घोड़े लेकर—"

"कहाँ ?"

"हाथमें वल्गा, पार्श्वमें हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पडा है उधर कामरूप-मणिपुर तक, उधर विन्ध्यके पार कन्या कुमारी तक, नहीं तो उत्तराखडके पहाडो—"

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहेकी साँकलोमें बँधे हुए बन्दी, और—"

"प्यार पीछे नहीं देखता, हेमा, उसकी दृष्टि आगे रहती है। मै देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिसमें हम दोनो—"

"मैं भी देखती हूँ, कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमानसे कटकर नहीं, उसीका फूल है—जैसे विना पत्तीके भी मधूकमे नया बौर.. जैसे पलाशकी फुनगीको चूमती हुई आग—"

"नहीं राजकुमारी, मै सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू करके धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्रमें पलाशका समूचा वन—"

"कुँवर !"

"कहो तुम मेरे साथ चलोगी—अभी—"

राजकुमारी चुप रही। फिर उसने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योकि नई सन्धि भी हुई है। विवाहकी तो अभी कोई बात नहीं है, क्योंकि विवाहके बाद शायद सन्धिमे वह बल नहीं रहेगा—मैं उधरकी जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मै देशकी शान्तिकी धरोहर हूँ.. इधरकी कुमारी, उधरकी वाग्दत्ता—मै कैसे भाग जाऊँ ?"

"तो क्या कहती हो ?"

"कुछ नहीं कहती कुँवर। मैं रोज यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम—तुम भी आते हो। यह कुण्ड हमारा अपना राज्य है . नहीं, राज्य नहीं, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छाके स्वामी हैं, धरतीके दास नहीं। यहीं हम रहते रहेंगे, चाँदनी और तारो-भरा अन्धकार हमे घेरे रहेगा—कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नही प्यार कर सकते ?"

"और भविष्य ?"

"वह किसीका जाना नहीं है। और उतावली करके उसको नष्ट करना—"

"धीरज! धीरज! हेमा, मै तुम्हें चाँदनीकी तरह नहीं चाहता जो आवे और चली जावे, मैं तुम्हें—मैं तुम्हें—अपनी छायाकी तरह चाहता हूँ, हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभरकर मुझे घेर लेनेवाली—"

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा—मै खो जाऊँगी ?" राजकुमारीका शरीर सिहर उठा।

"तब तुम मुझीमें बसी रहोगी, राजकुमारी !"

दूर कहींपर चौंककर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारीने सचेत होकर कहा, "अच्छा, कुँवर, मै चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।"

कुँवरने कहा, "राजकुमारी!" फिर कुछ भर्रायेसे स्वरमे कहा—"हेमा !"

हेमाने धीरेसे कहा, "अपने चाँदको तुम्हे सौंप जाती हूँ। देवता तुम्हारी रक्षा करे, कुँवर—"

उसने जल्दीसे चादर ओढी और निःशब्द लचीली गतिसे सीढियाँ चढ चली।

कुँवरने एक बार दक्षिण आकाशमें उभरे वृश्चिकको देखा, फिर झुक कर पानीमें हो लिया और क्षणभरमें हाथीकी पीठपर पहुँच गया। अँधेरे का एक पुज-सा पानीमेंसे उठा और कुण्डके छोरपर अँधेरेकी एक बडी-सी कन्दरामें खो गया।

हेमाका स्वर फिर पास कहीं बोला, "समझे ?"

किशोरने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नहीं करता ? वह तो—"

"कब कहती हूँ नहीं करता था ? पर मुझे नहीं, अपनी प्रलम्बित छाया को। तभी तो मुझे छोडकर चला गया—"

"चला गया ?"

"हाँ, दूसरे दिन वह नहीं आया। मैं देर रात तक कुण्डपर बैठी रही। तीसरे दिन भी नहीं। फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी वहाँ—वहाँ उसने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकडीके साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नहीं है, अपरिचित ! वह सब तुमने पढा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहोंसे घुल गये, इसका लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षाका मुख्य अग है। हम तो स्वय जीनेवाले है, जीवनके प्रति समर्पित होकर, क्योंकि जीवनका एक अपना तर्क है जो इतिहासके तर्कसे—"

"पर कुँवर ? राजकुमारी, कुँवरका क्या हुआ ?"

"वह नहीं आया। दूसरे दिन नहीं, तीसरे दिन नहीं, सप्ताह नहीं, पखवाडे नहीं। महीने और वर्ष बीत गये। विग्रह फैला और फैलता ही गया। वह नहीं आया फिर। और—आज भी मैं नहीं जानती कि मैं—कि मैं केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुण्डकी विवाहिता वधू, जिसकी लहरियोंसे खेलते मैंने वर्ष बिता दिये।"

"पर यह तो कुछ समझमे नहीं आया। बात कुछ बनी नहीं।"

'बातका न बनना ही उसका सार है, अपरिचित! प्यारमें अधैर्य होता है, तो वह प्रियके आसपास एक छायाकृति गढ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतरकी वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योंकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। मै खॅडहर की जमी हुई चॉदनी हूँ कुण्डकी एक विजडित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो, लालसासे देखो—तब देखोगे, मेरे आसपास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुमने गढ़ ली है—क्यों भद्रे, तुम क्या कहती हो?"

प्रमीला इस सम्बोधनसे अचकचा गयी। उसने तनिक-सा किशोरकी ओर हटते हुए कहा, "मैं—मैं—कुछ नही राजकुमारी, मैं तो—"

राजकुमारी ईषत् स्मित भावसे बोली, "मैं तो जो कहूँगी इस पार्श्ववर्ती अपरिचितसे कहूँगी, यही न?" फिर कुछ गम्भीर होकर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीतातप, सबके प्रति यह समर्पित है, किसीके आस-पास छायाएँ नहीं गढता, और सबकी वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो, तुम मेरी बहिन हो। तुम्हें कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यो आवश्यक है? यह पठार भी तो कुछ नहीं पूछता! अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हे लगता है?"

"हाँ, और नहीं। मै नही जानता। इस समय मै मानो इससे आत्मसात् हूँ, अलग उसको जोखनेकी दूरी मुझमे नही।"

"वह तो जानती हूँ। पठारसे, कुण्डसे, आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते? मेरी बात सुनते? क्योंकि मै—"

"राजकुमारी, तुम कौन हो? क्या तुम वास्तव नहीं हो?"

किशोर और प्रमीलाकी आँखे मिलीं, स्थिर होकर मिलीं और मिली रह गईं।

नहीं, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि तीतर किसीका भी नाम पुकारे। पठारकी अपनी एक वास्तविकता है, उनकी अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समान्तर हैं, सहजीवी हैं, सयुक्त हैं, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकताके अलग-अलग स्तर कहीं भी एक दूसरेको काटें। जो बोध स्वय ही हो, चेतना स्वतः उभरकर फैलकर जिम स्तरको भी छू आवे, चेतना स्वच्छन्द रहे, निर्धूम रहे, क्योंकि धीरज उनमें है, उनमें रहेगा—

किशोरने हाथ बढाकर प्रमीलाके दोनो शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि!'

आँखोंमें बडी हल्की मुसकान लिये दोनोंने एक दूसरेको सिरसे पैर तक देखा।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वाससे जान लिया कि छाया किसीके आस-पास नही है, दोनों वास्तवमें सामने-सामने हैं, हैं।

तब चाँद गोरोचनके बहुत बडे टीके-सा बडा हो आया।

साँप

•

अच्छाई-बुराईकी बात मै नहीं जानता। कम-से-कम इतनी नहीं जानता कि सबके, और खासकर अपने, बारेमे यह फैसला कर सकूँ कि हम अच्छे है कि बुरे। लेकिन उसके बिना जी न सके, चल न सके, चाह न सकें, ऐसा तो नहीं है? उसके लिए जितना जरूरी है, उतना मै जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस बातको जाने रहना, पकड़े रहना जरूरी है कि वह अच्छी है।

सवेरे-सवेरे उससे मिलने गया था। यों तो अक्सर हम मिलते है, पर वह सवेरे-सवेरेका मिलन कुछ बहुत विशेष था। मै चौंककर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्नसे उठा था, वह मेरे मनपर छाया था, दूसरे ऑख खोलते ही सामने देखा, बगुलोंका एक छोटी-सी डार आकाशमे उडी जा रही थी। तो पहले तो मै इसमें उलझा, स्वप्न बहुत मीठा था, उसकी मिठास बिगडनेका डर नही था, बल्कि उलझनेसे ही डर था, यों छोड देनेसे वह और छायी जा रही थी इसलिए बगुलोंकी डार पर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उससे क्यों एक हिलोर, एक ललक मनमें उठी। उसे मैंने कवितामें बॉधना चाहा—कविता मुझे नही आती, छन्द बॉधनेसे तो कसीदा काढना कम दुष्कर मालूम होता है, पर हॉ, आधुनिक ढग की, अनकहनीको अर्थकी बजाय ध्वनिसे कहना चाहनेवाली कवितासे कुछ ढाढस बॅधता है कि हॉ, यह तो हीरा-पन्ना-मोती जडा देव-मुकुट नहीं है, देसी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ लें। तो मैंने कहना चाहा, "भालेकी अनी सी बनी, बगुलोंकी डार, फुटकियॉ छिटफुट, गोल बॉध डोलती, सिहरन उठती है एक देहमें, कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेहमें, तुम फिर आ गये, क्वॉर?" देहमे, गेहमे तो बाकायदा तुक बन गई, और अन्तमे क्वॉरकी तुक जो दूर कहीं बगुलोंकी डारसे मिल बैठी तो

हम लोग जगलमें पहुँच गये। पहले, गीली-गीली भारी-भारी, ओससे दूधिया घास—उससे भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि वाह, ऊपरसे तो चिट्टी-चिट्टी दूध-धुली साधू-बाबा, भीतर-भीतर उमगोंसे कितनी हरी हो रही है, क्या कहा है किसी ने, अरमान मचलते हैं—फिर झाडियाँ शुरू हो गयीं, फिर छोटे पेड, फिर न जाने कब जगल चुपकेसे घना हो गया। पहले करज और झाऊ और ढाक, फिर सेमल और तून और फिर बडे-बडे महारूख। जमीन भी ऊँची-नीची हो गयी, कहीं टीला, कहीं पगडडी तो कहीं पानीकी लीक जहाँ कुछ दिन पहले नाला बहता होगा। लेकिन टीला तो उसे कहें जो खुला हो, जिसकी टाँट देखी जाय, यहाँ तो सब ऐसा ढका था। फिर बीहडमें सहसा एक थोडी-सी खुली जगह भी, जरा ऊँची मगर वैसे चिपटी, जैसे एक चौकी-सी पडी हो झाडियोंमें, उसपर एक पुराना देवी-मन्दिर। मैं इतनी उमँगती उदार तरगमें था कि कह गया मन्दिर, नहीं तो उस छोटी-सी, अध-टूटी, काईसे काली देवलीको बहुत कोई माईका थान कह देता, मन्दिर! लेकिन मैंने देवीका मन्दिर ही देखा, बीहड वनके बीच मन्दिर, मैंने सोचा यहाँ कभी तान्त्रिक साधक बैठकर देवीको साधते होंगे। और उनकी साधनाके औघड रूप भी जल्दीसे मेरी दृष्टिके सामने दौड गये—बहुत-से, क्योंकि दृष्टि असलमें तो अभी स्वप्नसे आविष्ट थी, उसे साधकोंकी रगीन विकृतियोंसे क्या मतलब था, वह तो उसी स्वप्नको देख रही थी जिसमें हम—

हम. यानी वह और मै, और वह मेरे साथ चली आ रही थी। बड़े भोलेपन से। उसकी आँखोंमें मेरी तरह दोहरी दीठ नही थी, वे खुली बाउडियाँ थी, स्वच्छ, शीतल उडते बादलकी परछाईं दिखानेवाली। वह वैसी ही मुग्ध, अपनेमे सम्पूर्ण मेरे साथ चली आ रही थी। मै उसे देख लेता था, उसके साथ होनेकी बात सहसा मनमे उभरती थी, फिर बीहड़ वनके अकेले, हरे, गीले धुँधलेपनकी, फिर मेरी आँखें उसकी आँखोंकी

कोरसे एक ढुलकी हुई लटके साथ फिसलकर उनके ओठों तक आती थीं और फिर मेरा मन ठिठक जाता था। फिर आगे नहीं सोचता था, फिर पीछे लौट जाता था क्योंकि पीछे स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्नमें हम. .

तभी सामने नीचे कुछ तीखी सुरसुराहट हुई! हम ठिठक गये। सहसा वह बोली, "वह देखो सामने साँप।"

मैंने भी देख लिया। बामके किनारेपर, मन्दिरके आस-पासकी बजरीपर रेंगता हुआ, लखौट-भूरे रंगका साप था।

वह गोल-गोल आँखें करके बोली 'कितना सुन्दर है साँप!'

उसकी आँखें सचमुच बड़ी भोली थीं। डर उनमें बिलकुल नहीं था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्ध भाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज भी होती है, वह भी मिट्टीमें पड़ी हुई, अनदेखी, उपेक्षित!

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माताकी एक बड़ी सफलता है, बड़े कलाकारकी प्रतिभाका एक करिश्मा—कहीं कोने नहीं, कहीं अनावश्यक रेखा नहीं, बाधा नहीं, भार नहीं, लहरीली, निरायास, लय-युक्त गति, बिजली-सी त्वरा-युक्त लेकिन बिजलीकी कौंधमें भी कहीं नोकें होती हैं और साँपकी गति निरा प्रवाह है. सुन्दर, लचीला, ललोहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुलके ऊपर हैं कि भीतर, ऐसी काँचके भीतरसे झाँकती-सी जान पड़ती हैं...

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँपको देखती रही। हम दोनों जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्रसे नहीं। वह साँपको देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँपके लयमय प्रवाहपर विस्मय कर रही थी, मैं उसके चेहरेकी मानो क्षण भरके लिए थम गयी चंचल बिजलियोंको देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरेको काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झटसे कौंधकर मिल

जाती हैं, बिजलीकी कौंध तो है ही लय होनेके लिए, लहरको देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उसकी आँखें साँपपर टिककर मुग्ध थीं। मेरी आँखोंमें मेरे भोरमें देखे हुए स्वप्नकी खुमारी थी। स्वप्नमें मैंने इसी तरह देखा था कि.

साँप आगे बढ गया। मन्दिरकी दीवारके साथ सट गया, ऐसा सटकर चिपक गया कि बस जैसे मन्दिरकी रेखासे अलग उसकी रेखा नहीं है, जैसे मन्दिरकी नींवसे ही वह सटा हुआ उठा है और वैसा ही रहेगा।

और चिपके-चिपके भी वह स्थिर नहीं था, वह आगे सरक रहा था। आगे-आगे, और गहरा चिपकता हुआ। जैसे उसकी देहकी रगड़की आरी से कटकर मन्दिरकी दीवारके नीचे उसके लिए जगह बनती जाती हो और उसमें वह धँसता-पैठता जाता हो।

बढता हुआ वह हमारे सामनेकी दीवारके कोने तक बढकर दूसरी दीवारके साथ मुड चला। थोडा और बढा, फिर रुक गया। आधा इस दीवारके साथ जो हमारे सामने थी आधा साथकी, जो हमारी ओट थी। उसका सिर ओट हो गया, कमर दोनों दीवारोंके जोडपर टिक गई।

मैंने सहसा कहा, "इस वक्त यह कैसा वेध्य है। अगर मैं मारना चाहूँ, तो निरीह मर जाय—"

"हाँ, लेकिन क्यों मारना चाहो? इतना सुन्दर—"

मैंने अपनी ही झोंकमें कहा, "अभी ढील मारूँ, तो बस, काटनेको मुड भी न सके—"

"क्या जहरीला है?"

"हो भी तो क्या? इस समय असहाय है, मौकेकी बात है, कुछ कर भी न सके, सारा रूप लिये ज्योंका-त्यों पडा रह जाय बिटुर-बिटुर तकता!"

उसकी पहिले ही मुग्ध गोल आँखें करुणासे और बडी-बडी हो आईं। बोली, "बेचारा कितना असहाय!" कितनी करुणा थी उस स्वरमें, कितना

निरीह था वह स्वर कि शायद साँपसे भी अधिक निरीह ! स्वप्नमें मैंने देखा था वह और मैं—हम—लेकिन स्वप्नकी उलझन जैसे सुलझ गई, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गई और मैंने देखा, मै अलग यहाँ, वह अलग वहाँ, बडी सुन्दर, बडी अच्छी, मेरे साथ जङ्गलमे अकेली, लेकिन अलग वहाँ। और हम दोनो खडे उस सुन्दर चित्तीदार, ललौहें-भूरे, लचीली लहर से बलखाते साँपको देखते रहे। मै भी, वह भी। चाहे मै साँपको जितना देख रहा था उससे अधिक उसीको देख रहा था। साँप तो मन्दिरकी भीत से सटा खडा था, और वह मुझसे सटी खडी थी।

फिर मैंने कहा, "चलो आगे चलें।"

हम लोग चल पडे। पर असलमें आगे हम नहीं चले, हम लौट आये। वह बीहडमेंका मन्दिर वहीं खडा रह गया। तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड-पूजा किया करते होंगे. किया करें। उन्होंने वैसा सुन्दर साँप कभी थोडे ही देखा होगा—कम-से-कम उतना असहाय और वेध्य ? यों तो मैंने भी कभी नहीं देखा, स्वप्नमें भी नहीं, यद्यपि सपने मैंने एकसे-एक सुन्दर देखे, हैं, जिन्हें मै कह भी नहीं सकता। और किसीको तो क्या, उसको भी नहीं, जो मै जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मै अच्छा होऊँ या बुरा।

आदमकी डायरी

●

मैं क्यो और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवाने और मैंने मिलकर इस सुन्दर उद्यानकी मिट्टीमें कई बार टीले बनाकर ढहा दिये है, कई बार अपने पैरोंके ऊपर गीली मिट्टी जमाकर पैर खींचकर वैसी ही खोह बनाई है जैसीमे हम रहते हैं यह भी मैं जानता हूँ कि जैसे पैर ढॅक लेनेसे और हाथ छिपा लेनेसे भी उनकी बनाई हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीजोंका बनानेवाला नहीं दीखता, उसका भी कोई बनानेवाला होता अवश्य है। खोहके भीतर पैरके आकारका खोखल देखकर हम उस पैरकी कल्पना कर सकते हैं जिसपर वह कन्दरा टिकी थी, बाहरसे कन्दराकी दीवारपर उॅगलियोंकी छाप देखकर हाथका अनुमान कर लेते है इसी तरह यदि हम इस उद्यानके रग-बिरगे, सूखे-गीले, चल-अचल विस्तारसे परे देख सकते, तो शायद इसके भीतर भी हमे किसीके पैरके आकारकी प्रतिकृति दीख पडती, इसपर भी किसीके हाथोंकी छाप पहचानी जा सकती हम छोटे हैं, बनानेवाला बडा होगा, हो सकता है कि जैसे इस उद्यानकी मिट्टीपर बडी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनानेवाला वैसे तो छोटा हो पर बडाईको भी घेर सकनेकी, मिटा और फिर बना और आडा-तिरछा बना सकनेकी भी सामर्थ्य रखता हो

तो मुझे कैसे, किसने, क्यो बनाया ? . समझमें नहीं आता। वह कोनेके पेडमे पड़ा हुआ साँप अपनी गुजलक खोलकर और जीभ लपलपाकर कहता था—पर साँपकी बात मुझे बुरी लगती है. .वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टीपर सूखे नाले-सी लकीर डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खड़े हो जाते है। साँपको

देखता हूँ, तो दिन-भर अनमना-सा रहता हूँ, यवा पूछ-पूछकर तग कर देती है कि क्यो ? पर मेरा दिन अच्छा नही बीतता.. सॉप अनिष्ट है .

× × ×

क्यो उसने मेरे मनको ठीक वैसे ही घेरकर बॉध लिया है जैसे वह उस फल देनेवाले पेडको अपनी गुजलकमे कसे रहता है ? क्यो मेरा मन या तो सोच ही नहीं सकता, या सॉपके दबावके अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देखकर हँसता है। उसकी हँसीमे कुछ ऐसा होता है, जो कोटकी तरह सालता है। वह बताना चाहता है कि वह मुझसे अधिक जानता है, मुझसे अधिक समर्थ है, मुझसे अधिक पराक्रमी है। किन्तु मै तो यवाको देखकर यवाको दर्द पहुँचानेके लिए कभी नही हँसा हूँ ? यवा भी तो बहुत-सी बातें नही जानती जो मै जानता हूँ, यवासे भी तो बहुत-से काम नहीं होते जो मै कर सकता हूँ।

यवा मेरे साथ रहती है। यवा मेरी है। मै उसके लिए फल लाता हूँ, मै उसके लिए फूल तोडकर बिछाता हूँ। मै अपने मुँहमे पानी लेकर एक-एक घूँट उसके मुँहमें छोडता हूँ। मुझे इसमें सुख मिलता है कि जो काम मै करता हूँ वे सबके सब यवा न कर सकती हो। मुझे इसमे भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मददके बिना न करे। यवा मेरी है।

सॉप तो मेरा कोई नहीं है ? उसका दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नहीं ? एक फल दिखाकर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कारसे हँसता है, पर मैंने तो वह फल कभी चाहा नही है, मैंने तो उसकी ओर देखा भी नहीं है, मैंने सॉपकी बुलाहटकी अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यो हँसता है ?

मै सॉपका नहीं हूँ, क्या इसीलिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उसका होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमजोरीमें

सुख पाता, क्या वह भी अपनी लपलपाती हुई जीभसे चाटा हुआ पानी मुझे.. पर उह ! मैं नहीं चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मैं उसका हूँ। कहता था, जब तुम बने भी नहीं थे, तबसे तुम मेरे ही थे, जब तुम नहीं रहोगे, तब भी तुम मेरे ही रहोगे। मेरी गुजलक तुमको घेरनेवाली लकीर है। उसके बाहर कही भी तुम नही जाओगे, कहीं भी नहीं रह पाओगे।

मैं उसका हूँगा, जिसने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर वह कौन है, मै कैसे जानूँ

× × ×

वह साँप तो कुछ भी नहीं मानता। उनकी हँसी एक भीषण अवमाननाकी हँसी है। उसमे विश्वास नही है .वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ, क्या जानना ही विश्वास छोंडना है और क्या विश्वास छोडने से ही बडा और समर्थ बन जाता है ?

उसकी किसी बातमें विश्वास नही है। पर जब वह बात कहता है तो लगने लगता है, इस बातमे विश्वास किया जा सकता है

× × ×

जबसे मैंने साँपका इशारा मानकर उसकी बताई हुई दिशामे देखा है, तबसे मेरा तन अभीतक थर-थर काँपता ही जा रहा है.

उसने कहा था, "तुम कहते हो, यवा मेरी है, इसलिए हम दोनो एक है। पर जो चीजे एक जैसी नहीं हैं, एक तरह नहीं बनी है, वह एक कैसे है ? तुम धोखेमें हो, धोखेमे।"

मैंने उसकी बात नही सुनी थी। मैंने जवाब भी नहीं दिया था। मन हीमे सोचा था, यह झूठ है। हम दोनो एक है, क्योंकि इतने बडे उद्यानमें एक यवा ही थी जिसको देखकर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है, और जो सहसा ही मेरे पास आकर आई ही रह गई थी, भोजन खोजने भी

मैंने अपने ही कम्पनपर क्रुद्ध होकर कहा, "यवाने तुमसे कहा, यवाने। तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नहीं।"

साँप कुछ शान्त होकर बोला, 'क्या कहा?' और जैसे हमें भूल कर चक्करपर चक्कर देता हुआ उस पेडपर लिपटने लगा। पेडका तना छिप गया, फिर एक-एक करके शाखें भी छिपती चलीं

पता नहीं क्यों पेडका छिपते जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। लगने लगा कि यह अनिष्ट है, पर जैसे मेरी आँख उसपरसे हटी नहीं, और मेरी देह और भी काँपने लगी।

यवाने मुझे खींचते हुए कहा, "चलो, यहाँसे चलो"।

एकाएक मुझे कुछ याद आया, मैंने यवासे पूछा, "यवा, क्या तूने सचमुच साँपसे बात की थी?"

यवाने डरकर मुझे और भी जोरसे खींचते हुए कहा, "चलो, आदम, चलो यहाँसे।"

हम लोग हट गये। दूर चले गये, जहाँ वह पेड और साँपकी खडे पानी-सी आँखें हमें न दीखें। पर मेरे शरीरका कम्पन बन्द नहीं हुआ, और मुझे लगता रहा कि शून्य हवामेंसे कहींसे साँपकी आँख निरन्तर मुझे भेद रही है

× × ×

जब झीलमेंसे नहाकर तपती रेतपर लेटे-लेटे हमें फिर भोजनकी इच्छा हुई, और हमने देखा कि आकाशका वह पीला फल फिर लाल हो चला है, तब एकाएक मुझे बहुत अच्छा लगने लगा। मनमें हुआ, आज साँपकी हर एक बातका मैं सामना कर सकता हूँ। मैं यवाका हाथ पकडकर उसे उसी पेडकी ओर खींच ले चला जिसपर साँप लिपटा था।

मुझे डर नहीं लगा, मैं काँपा भी नहीं। राहमें एकाएक मैंने पूछा, "यवा, तुमने सचमुच साँपसे वह बात कही थी?"

यवाने जवाब नहीं दिया। फिर एकाएक चौंककर बोली, "वह देखो, वह!"

मैंने देखा।

पेड़ सारा साँपकी गुंजलकमें छिप गया था। जैसे कीड़ा पत्तेको समूचा खा जाता है, वैसे ही साँपकी गुंजलकने भूतलसे लेकर ऊपर तक समूचे पेड़को लील लिया था—तना, शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी फुनगी सब छिप गई थीं—और स्वयं साँप भी गुंजलकके भीतर कहीं सिर छिपाकर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था न पेड़, केवल एक गुँथी हुई विराट् गुंजलक—

और हाँ, उस गुंजलकके ऊपर, जैसे उसीसे निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल...

यवाने जोरसे मुझे पकड़ लिया। मैंने एक हाथसे उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उसके भीतर कुछ बड़े जोरसे धक्-धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलानेको कहा, "क्यों यवा, क्या है?"

उत्तरमें वह और भी जोरसे मेरे साथ चिपट गई। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो?"

उसने और भी चिपटकर कानके पास मुँह रखकर धीरेसे कहा, "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर?"

यवा फिर चुप हो गई, मैंने देखा वह मेरे साथ अधिकाधिक चिपटती जा रही है, और उसके भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जाकर जैसे मुझे भी भर रही है...मेरे रोएँ फिर खड़े होने लगे, पर डरसे नहीं, डरसे कदापि नहीं—किससे, यह मैं नहीं जानता!

मैंने कहा, "कहो यवा क्या है?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उसकी कॉपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरेको देखते हुए, दूसरा हाथ उसके माथेपर रखते हुए पूछा, "मेरी वीरबहूटी, बता, क्या चाहती है ?"

उसने एक बार बड़े जोरसे धकूसे होकर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे ?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नहीं समझ आया कि क्या कहूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथ से यवाको पकड़े ही पकड़े दूसरा हाथ बढाकर वह फल तोड लिया—शायद यवाके भीतरकी वह धक्-धक् मुझे धकेल गयी।

एकाएक साँप हिला। यवाने लपककर फलमें एक चाक दे मारा और शेष मेरे मुँहमे ठूँस दिया—साँपने जरा इधर-उधर सरककर सिर बाहरको निकाला—और साँपका कुण्ठित कर देनेवाला उन्मत्त अट्टहास सारे उद्यानमें गूँज गया

"जो मै स्वयं तुम्हें दे रहा था, वह तुमने मुझसे छिपाकर तोड खाया। छिपाकर, छिपकर, अलग होकर, तुम जो सब कुछ एक बताते हो, तुम मेरी झूठ-मूठकी नींदसे धोखा खा गये। अब तुम्हारी देहके भीतर मेरा लाल फल है, और तुम्हारी देहको मेरी यह गुजलक बाँधेगी—बाँधेगी तुम्हारी नगी देहको जो—तुम नगे हो, नगे। नगे।"

× × ×

क्या जिस समर्थ भावसे भरकर मैं वहाँ गया था वह भुलावा था ? साँपने हमे धोखा भी दिया तो भी मै समर्थ हूँ। मै अपनी यवाको लेकर उस उद्यानसे बाहर चला आया हूँ। यहाँ केवल वीरान है, पेड-फल-फूल नहीं हैं, लेकिन यहाँ साँप भी नहीं है। यहाँ केवल मै हूँ और मेरी यवा है।

वहाँकी खुली हवामें बैठकर यवाने पूछा, "कैसा था फल ?"

जैसे किसी अनदीखते साँपकी अनदीखती, अस्पृश्य गुजलकमें हम दोनो बद्ध हों, और—

और मेरे मनमें रह-रहकर यवाकी काँपती हुई हँसीसे कही हुई बात गूँज जाती थी, "अगर वैसी गुजलक मुझपर लिपट जाय, मैं सारी जकडी जाऊँ, तो कैसा लगे ? अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाहोंसे मुझे बाँधकर छा लो और मेरे बाल पकडकर उनमे मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे बताओ तो ? "

कैसा लगे, बताओ तो...न जाने कैसा लगे, यवा, न जाने कैसा लगे. .पर मै तो बडा दयनीय, बहुत छोटा, बहुत अकेला हूँ और मै छिप जाना चाहता हूँ न जाने किसकी आँखोंसे—मुझे अच्छा नहीं लगता...

मेरा शरीर सिहरकर तनिक-सा काँप गया। यवाने चाककर आधी उठकर भर्रायेसे स्वरमें कहा, "कैसा लगता है, आदम, बताओ तो ?"

मेरे मनमे हुआ, यवा, इस मरुभूमिमें न वनस्पति है, न साँप है, न फल, शायद इन सबका बनानेवाला इस मरुभूमिमें नही है, यहाँ है केवल तुम और मै और हमारा अकेलापन—और मैने विवश-भावसे यवाको पास खींचकर घेरते हुए कहा, "तुम्ही जानो, यवा, कैसा लगेगा, मै तुम्हे बाँधे लेता हूँ इस गु जलक मे—" और यवाने जैसे बिजलीकी तरह काँपकर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बाँध लो मुझे, छा लो, पेडकी एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल. ."

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करनेवाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यो मै दयनीय हूँ, क्यो मै छोटा हूँ, क्यों मैं अकेला हूँ...इस मरु-भूमिमे और कोई नही है, मै ही गुंजलक हूँ, मै ही साँप हूँ, मै ही फल हूँ... और क्यों नहीं हूँ, मै ही वह बनानेवाला हूँ जिसका नाम हम नहीं जानते—मैं !

और यवाके भीतरका धक्-धक् ताल देता हुआ बोला—"औ
और एक लहर-सी मेरे ऊपर आई, डुबा देनेवाली, घोंट देनेवाली, तहस-नहस करनेवाली, यह आकाशका जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मैं देखता और जानता हूँ सब कुछ जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवाको बाँधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मैं ही बनानेवाला हूँ—

और तब—

नहीं, यवा, नही ! हम नगे हैं । नगे है । और मैंने सहसा परे हटकर अपना मुँह जमीनमें छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची देह उसीमें धँस जाय । और यवा भी मुँह फेरकर धीरे-धीरे रोने लगी.

[३]

यह जो मेरे भीतर और यवाके भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनानेवालेके पैरकी प्रतिकृति वह खोखल नहीं है जिससे कन्दराका बनानेवाला पहचाना जाता है ? साँपके आगे मेरी हार हुई है, लेकिन मै जानता हूँ कि साँपने झूठ कहा था, मैं जानता हूँ कि बनानेवाला एक है और निश्चय है...उसकी छाया भी मेरे भीतर है और यवाके भीतर, और निस्सन्देह उस अनिष्ट साँपके भीतर..

लेकिन यह यवामें क्या नई बात प्रकट हुई है ? मेरे और यवाके, बनानेवालेके और उसके प्रतिस्पर्धी साँपके बीच यह एक नया डर और नया आग्रह कैसा देखता हूँ, जो यवाकी आँखोंमे काँपा करता है ?

× × ×

यवा, सच बताओ, मेरे और तुम्हारे, साँपके और सबके नियन्ताके बीच यह चीज क्या है जिसे तुम जानती हो और हम नहीं ? बताओ, तुम्हारा यह डर और चिन्तित उत्कण्ठा कैसी है ? किसके लिए तुम कोमलता

से भरा करती हो, किसके लिए तुम मुझे भूल-सी जाती हो, पहचानती नहीं हो, किसके लिए तुम्हारी आँखें सर्दाकी बरसातके बादकी-सी धुन्धसे भरकर तैरने-सी लगती हैं ? बताओ मुझे, तुम्हे क्या हो गया है .

क्या मैंने तुम्हें क्लेश दिया है ? पीडा पहुँचाई है ? लेकिन क्या वैसा मैंने चाहा है ? इस अनिष्टकर साँपकी देखादेखी मैंने तुम्हें गुंजलकमे बाँधना चाहा था अवश्य, और उससे हम दोनो स्तम्भित हुए थे अवश्य, पर वह तो तुम्हींने जानना चाहा था, और फिर तब तो तुम ऐसी बदली भी नहीं थीं..

यवा, बताओ मुझे वह अन्य कौन है...

× × ×

मै जैसे बदल रहा हूँ। कुछ और ही होता जा रहा हूं। मै नहीं जानता कि क्या बदल रहा है, पर कुछ फर्क हो गया है ज़रूर। पहलेकी तरह भागना-दौड़ना और यवाके साथ ऊधम करना अब उतना नहीं सुहाता, और यवामें भी जैसे उसका उतना आग्रह नहीं है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवाके आस-पास कहीं निकट ही रहूँ, भूख होनेके समय यवाको लेकर घूमनेके बजाय वहींपर खानेको फल-फूल ले आऊँ, यवाके लिए एक बडी-सी कन्दरा बना दूँ और उसके आस-पास फलके पौधे लगा दूँ जिससे दूर जाना ही न पड़े..." और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दराके बननेमें उसका मुझसे भी अधिक आग्रह है—वह उसके भीतर बैठकर दिनमें रातके सपने देखना चाहती है...

वही तो शायद सर्दाकी धुन्धकी तरह उसकी आँखोंमे छाया और जाया करते हैं, जमा और घुला करते हैं.. पर क्या चीज है वह जिसकी माँग उन धुन्धके पीछे यवाकी आँखोंमे झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त जिसकी चाह यवा करती जान पडती है...

अक्सर बादल छाये रहते हैं, कभी-कभी पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनी-सी कन्दरामें पडी रहती है, और मैं अनमना-सा आकाशकी ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने होकर काले पड जाते हैं, कभी छितरा कर उजले हो जाते हैं, और थोडी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नहीं आता कि मेरे इस अपने दो जनोंके उद्यानपर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे हो गये हैं। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है, वह भी शान्त विश्वाससे आकर मेरे द्वारा सहलाये जानेके लिए अपनी ग्रीवा झुकाकर बैठ जाया करती है, फिर भी जैसे उसकी आँखोंकी उस धुन्धमें अस्पष्ट-सा दीख पडनेवाला आकार हर समय हमारे बीचमें बना रहता है.

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उसका जी कैसा होने लगता है, कभी उसके पीड़ा होने लगती है.. मुझे समझ नहीं आता कि मैं क्या करूँ कि वह फिर पहले-जैसी हो जाय मुझे कुछ भी समझ नहीं आता, कुछ भी अच्छा नहीं लगता

ओ तू—मेरे और यवाके बनानेवाले, मुझे बता कि क्या करूँ, यवाको कैसे सान्त्वना दूँ, कैसे शान्ति पहुँचाऊँ.. मुझे बता, कैसे उसका दर्द दूर हो, कैसे वह उठे, कैसे वह मुझे जाने...

यवा भीतर बैठी है और रो रही है। मैं उसे बाहर लाना चाहता हूँ, धूपमें बिठाना चाहता हूँ, कोई बूटी खिलाना चाहता हूँ जिससे उसे कुछ चैन हो, पर वह निकलती नहीं, उसे कन्दराका अँधेरा और एकान्त ही पसन्द है, वहींकी गीली मिट्टी कुरेदकर कभी-कभी वह खा लेती है, यही उसे अच्छा लगता है. मुझसे सहा नहीं जाता यह, मेरा जी न जाने कैसा होता है, पर वह मेरा पास रहना भी नहीं सह सकती, वह मुझे अपनेसे

दूर रखना चाहती है, वह कन्दराके अन्धकारमें मेरी भी दृष्टिसे छिपना चाहती है—बल्कि मेरी ही दृष्टिसे ..

उफ—कुछ समझ नहीं आता .

ओ तू मेरे और यवाके बनानेवाले, मुझे बता कि मैं क्या करूँ... यहाँ बाहर बेबस और अकेला बैठकर बादलके टुकड़े गिननेसे तो कुछ नहीं होगा, बता कि उसके अकेलेपनमें और उस वेदनामें मैं कैसे काम आऊँ..

× × ×

अँधेरेमें शायद मैं सो गया था।

एकाएक एक बड़ी भेदक चीख सुनकर मैं उठकर भीतर कन्दरामें दौड़नेको हुआ, किन्तु क्या यह चीख यवाकी थी? वैसी चीख तो मैंने यवाके मुँहसे कभी नहीं सुनी थी.. क्षण ही भर बाद वह फिर आई—नहीं यह यवाकी नहीं हो सकती.. एक बार और—हाँ, यह यवाकी ही पुकार है शायद—

यवाने सहसा धीमे, दर्द-भरे स्वरमें पुकारा, "आदम!" मैं दौड़कर भीतर गया और स्तम्भित खड़ा रह गया। यवाने सिमटकर मुँह फेरते हुए सकुचायेसे स्वरमें कहा, "आदम, यह क्या हो गया है.."

मैं समझा नहीं, लेकिन एकाएक मैं जान गया, साँप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करनेवाली शक्ति ही सच है, बनानेवाली है, और एकाएक मैं इस सब कुछके बनानेवालेका नाम भी जान गया जो साँप कहता था कोई जान ही नहीं सकता क्योंकि वह है नहीं—स्रष्टा! मैंने जान लिया है कि मैं ही स्रष्टा हूँ...और मैंने पुकारकर कहा, "यवा, ठहरो, मैं जान गया हूँ कि स्रष्टाको छिपाकर ही जिया जा सकता है, सबसे छिपकर ही उनसे मिलना सम्भव है..."

मै एकाएक बाहर दौड़ गया, अँधेरेमें ही मैंने सेमलका पेड खोजकर उसके ढेरसे फूल तोडकर एक लताकी छालमें गूँथकर बाँध लिये, लौटकर वह आवरण यवाके और उसकी छातीपर चिपटकर पड़े हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटेसे आदमके ऊपर ओढा दिया।

यवाने सिहरकर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुजलकसे मुझे बाँध दो, छा लो समूचे पेडको, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नहीं। केवल फल—केवल फल "

और छातीसे मेरी सृष्टिको चिपटाये हुए और सब तरफसे आवृत यवा की हँसीसे चमक गये दाँत देखकर मैंने सदाके लिए जान लिया कि साँप झूठा है, कि स्रष्टा है, कि एकता है.

वसन्त

मधुर कंठवाली एक स्त्री, जो गाती हुई प्रवेश करती है। उसका स्वर आजकी सिनेमा आर्टिस्टका सधा-बँधा स्वर नहीं है, जो 'प्रीफेब' सिमेंटकी चौरस सिल्लीकी तरह नपा-खिंचा मगर बिल्कुल ठस होता है, यानी जो होता है उससे अधिक कुछ नही होता—सब कुछ सामने है और जो सामने नहीं है वह हुई नहीं—बल्कि सामने भी क्या है? एक ठप्पेकी छाप। उसका स्वर बिल्लौरकी तरह पारदर्शी है, जिसके भीतर रंगीन कहानियाँ दीखती है, आगे और पीछेकी कहानियाँ, उजली और फीकी छायाएँ, और सब पारदर्शी जैसे चन्द्रकान्त मणिके अन्दर चाँदनी दूधिया ओस-सी जम गयी हो।

पहला वसन्त, जिसका स्वर एक हँसते युवकका स्वर है, जो जब बोलता है तो साथ-साथ कई बाँसुरियाँ बज उठती हैं, बडी द्रुत लयसे मानो उनका पलातक संगीत पकडमें तो आनेका नही, उसके पीछे दौडना भी व्यर्थ है, हाँ, कोई अपनी भावनाएँ भी उसके साथ-साथ छोड़ दे तो छोड दे।

दूसरा वसन्त, जैसे अनुभवोंकी दोहर ओढे भारी पैरोंसे चलनेवाला, भारी गलेसे बोलनेवाला अग्रज, उसका धीमा गुरु स्वर मानो इसराजका मन्द्र एकस्वर है, और प्रत्येक शब्दको तोल-तोलकर, श्रोताकी आत्मामें उसे बैठा देता हुआ-सा बोलता है।

स्त्री गाती है—

"फूल कांचनारके
प्रतीक मेरे प्यारके
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियोंका सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली
आये फिर दिन मनुहारके, दुलारके
फूल कांचनारके।"

तब बाँसुरीका तीखा स्वर द्रुत लयपर दौडता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री : "अरे कौन ?"

पहला वसन्त : "मैं वसन्त।" फिर बाँसुरीका स्वर।

स्त्री : "कौन वसन्त ?"

वसन्त १ : यह भी बताना होगा ? सुनो..."

फिर द्रुत लयपर बाँसुरी जिससे प्राण ललक उठे, लेकिन सुनते-सुनते उसका स्वर खो जाता है।

वसन्त १ : "सुना ? अब पहचानती हो ?"

स्त्री : "अम्-म्-म्..."

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो मलय समीरके हर झोकेमें आकर तुम्हारी अलकोंको सहला जाता है। सरसोंके फूलमें मेरा ही रग खिलता है, आम्र-मजरीमें मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयलके स्वरसे तुम्हें—तुम्हें क्यों, प्राणिमात्रको—पुकारता हूँ कि देखो, अब समय बदल गया। दिने भी अपनी निरन्तर सिकुडन छोडकर साहसपूर्वक बढने लगा। जिस सूर्यसे जीवमात्र और सब वनस्पतियाँ शक्ति पाती है, वह स्वय इतने दिनोंकी निस्तेज क्लान्तिके बाद फिर दीप्त होने लगा। केवल बाहर ही नहीं, तुम्हारे शरीरकी शिरा-शिरामें, तुम्हारे अगोंके स्फुरणमें, तुम्हारे मनके उत्साहमें मेरा स्वर बोलता है..."

फिर वही बाँसुरीका स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्तकी आवाज मानो उसकी मनुहार सुननी ही पडेगी, उससे कोई बचकर निकल जायगा तो कैसे। धीरे-धीरे, प्राणोंको आविष्ट करता हुआ-सा, वह गाता है :

"सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है, यौवनमें प्यार।

वसन्त

जागो, जागो,
"जागो सखि वसन्त आ गया !"

और स्त्री भी विवश साथ-साथ गुनगुनाने लगती है :

"वसन्त आ गया—
आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया "

तब, पीछे कहीं, धीरे-धीरे इसराज मन्द्र बज उठता है, पहले बहुत धीरे, फिर क्रमशः स्पष्ट, मानो उसे अब अपनी बातपर विश्वास हो आया हो इतना कि अब वह हर किसीको अपनी बात मनवाकर ही छोड़ेगा। स्त्री सहसा चौंक पड़ती है।

स्त्री : "कौन ?"

दूसरा वसन्त . "मैं वसन्त।"

स्त्री : "वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। सुनो सखी, सुनो बन्धु "

वसन्त २ : "हाँ, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो बन्धु ! वसन्त जरूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त ? क्या तुमने लक्ष्य नहीं किया कि सवेरा जल्दी होने लगा, तुम्हें काम जल्दी आरम्भ करना पड़ता है ? क्या तुमने नहीं देखा कि पिछली बरसातमें वनस्पतियोंने जो हरी चादर ओढ ली थी, शरद्‌ने जिसमें शेफालीकी बूटियाँ काढी थीं, जो जाड़ोंमें हरे रेशमी वसनसे बदलकर लाल और भूरा दुशाला बन गई थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण होकर, तार-तार होकर झर रही है ? वह पतझड मैं हूँ। जो सनसनाती हुई ठण्डी हवा वनस्पतियोंके सब आवरण उडाये ले जा रही है, वह मैं हूँ। सवेरे-सवेरे झाड़ूकी मारसे उडी हुई धूल मैं हूँ। धूलका झक्कड मैं हूँ। सुबहकी धुन्ध मैं हूँ। शामको क्षितिजपर जमा हुआ धुआँ मैं हूँ। बाहर ही नहीं, मैं भीतरकी हताशा हूँ कि 'एक वर्ष और गुजर गया'। मैं आतंक हूँ आनेवाले ग्रीष्मकी सनसनाती हुई लूके फूत्कारोंसे उड़ती हुई गर्म रेतका ."

स्त्री : "ओह ! आह !"

द्रुत लयपर बाँसुरी और विलम्बितपर इसराज बारी-बारीसे बजने लगते हैं। एक स्वर उभरता है और डूबता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूब जाता है। ये स्वर हैं, या कि भावोंकी धूप-छाँह ही स्त्री के मुँहपर खेल कर रही है ?

वसन्त १ : "मैं तुम्हारे जीवनका स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा भविष्य, भविष्यकी आशा हूँ।"

वसन्त २ : मैं भी तुम्हारे जीवनका स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा अतीत हूँ और अतीतका अनुभव। क्या आनेवाले कलकी आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गई हैं वे स्वप्न नहीं हैं ?"

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती थीं—"

वसन्त २ : "मैं वह हूँ जो तुम हो।"

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती हो ."

वसन्त २ : "थीं भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यों नहीं हो ? [तिरस्कार पूर्वक] 'सुनो सखी, सुनो बन्धु ?' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो जरूर सुनो !"

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत, कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता, क्योंकि फीकी धूप ही हल्की छाँह है, और फीकी छाँह ही नई चमक, और . धीरे-धीरे दोनों ही लीन हो जाते हैं, मानो अस्तित्वके उस तल परसे अब उतर आना होगा जिसपर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त्त होकर, वाणीयुक्त होकर सामने आते हैं। इस निचले स्तरपर तो वसन्तोंके संगीतमय सुर नहीं, बरतनोंकी खनखनाहट है.. नरेमँजते और धुलते हुए बरतन, धोकर ताकमें रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, और स्त्रीकी बात मानो स्वगत भाषण है।

स्त्री : "मैं वह हूँ जो तू है। मैं वह हूँ जो तू हो सकती है—मैं वह हूँ जो तू थी। मैं वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मै क्या थी—क्या हूँगी क्या हूँ? शायद उसे नहीं सोचना चाहिए। नहीं तो इतने वर्षोंसे इसी एक प्रश्नका उत्तर देना क्यो टालती आई हूँ? क्या थी—फूल, या मिट्टी? क्या हूँगी—मिट्टी, या फूल? एक बार—एक बार सोचा था लेकिन क्या सचमुच था? इतनी पुरानी बात लगती है कि सन्देह होता है लेकिन जल्दी करूँ, पानी चला जायगा।"

और ठीक उसी समय स्त्रीका पति प्रवेश करता है। पति-जैसा ही उसका स्वर है, साधारण, न रूखा न मीठा, जिसमें कुछ अपनापा भी है, कुछ उदासीनता भी, लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यारके परिचयके ही दो पहलू नहीं हैं?

पति : "मालती।"

स्त्री : "जी।"

पति : [चिढाता हुआ] "अगर मै बाहर ही खडा रहता, तो सोचता कि न जाने कौन तुमसे बातें कर रहा है। यह क्या पता था कि आप जूठे बरतनोंसे भी बाते कर सकती हैं।"

स्त्री "नहीं. हॉ "

पति · "यानी इतनी तन्मय होकर बात कर रही थीं कि तुम्हें मालूम ही नहीं? कौन था आखिर वह मन-मोहन सुध-बिसरावन.. कौन आया था?"

स्त्री · [अनमनी-सी] "वसन्त।"

पति : [न समझते हुए] "कौन वसन्त?"

स्त्री : "यह तो मै नहीं जानती! [धीरे-धीरे] वह कहता था, मैं मलय-समीरमें रहता हूँ और कोयलके स्वरसे पुकारता हूँ। कहता था, वह सरसोंके फूलके रगमें है। [कुछ रुककर, और भी अनमनी, खोई-सी]

नहीं, वह कहता था, मैं पतझड़ हूँ। और धूलका झक्कड। और निराशा।"

पति : "मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गई हो। क्या करूँ, सोचता तो बहुत दिनोंसे हूँ कि कुछ छुट्टी लेकर घूम आयें, लेकिन मौक़ा ही नहीं बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत—"

स्त्री : [सहानुभूतिसे तिलमिलाकर] "रहने भी दो, मुझे क्या करनी है छुट्टी? थकते तो मर्द हैं, स्त्री कभी नहीं थकती है। काम और विश्राम—यह मर्दकी ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नहीं करतीं, क्योंकि वे शायद काम नहीं करतीं। वे कुछ करती ही नहीं. .वे शायद सिर्फ होती ही हैं। बालिकासे किशोरी, कुमारीसे पत्नी, बेटीसे माँ, एक निस्संग आत्मासे परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न-कुछ होती ही चलती हैं। क्योंकि वे हैं कुछ नहीं, वे केवल होते चलनेका, बननेमें नष्ट होते चलनेका, या कि कह लो नष्ट होते रहनेमें बननेका, दूसरा नाम हैं। वे भविष्य हैं जो कि पीछे छूट गया, एक अतीत हैं जो कि आगे मुँह बाये बैठा है..."

पति : [कुछ त्रस्त स्वरमें] "मालती. क्या तुम सुखी नहीं हो? [पीड़ित-सा] लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हें कुछ दे ही तो नहीं सका। यह तो नहीं कि मैंने चाहा नहीं। लेकिन चाहना ही तो काफी नहीं है, सकना भी तो चाहिए। [सहसा नये विचार के उत्साहसे] चलो, कहीं घूम आयें—या चलो सिनेमा चलें—"

स्त्री . "ऊँहुक्। सिनेमामें मेरा दम घुटता है।"

पति : "तो चलो, कहीं बागमें चलें। या बाहर खेतोंकी तरफ। आजकल नदीकी कछारपर सरसों खूब फूल रही है। बीच-बीचमें कहीं अलसीके नीले फूल—"

नेपथ्यमें कहीं धीरे-धीरे वही बाँसुरी बजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी बात दुहराती हुई।

स्त्री : [मानो स्वगत] "यह कहता था, सरसोंके फूलमें मेरा ही रग खिलता है। और आमके बौर में "

पति : "क्या गुनगुना रही हो, मालती ? तुम्हें याद है, उस बार जब मैं ·"

स्त्री : "कब ?"

पति : "बनो मत। उस बार जब गौनेके बाद तुम आई ही थी, और मैंने कहा था कि "

स्त्री. [मानो स्तब्ध-सी और न पसीजती हुई] मुझे कुछ याद नहीं है। मै तो सोचती हूँ, यह याद भी मर्दोंकी ईजाद है। उनके लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है।"

एक बालक उनका बालक उसका बालक। बालकोंके स्वरका वर्णन हो भी सकता हो तो नहीं करना चाहिए, उसमे जो अकल्पित सम्भावनाएँ मचलती है, उन्हे बाँध देनेका यत्न क्यो किया जाय ? वह निकट आ रहा है और वे सम्भावनाएँ मानो एक झलक-सी दे जाती है

बालक : "माँ—माँ।"

पति "यह लो आ गया ऊधमी ! अच्छा तो तुम जल्दीसे उठो, मैं अभी-अभी तैयार हो जाता हूँ—हाँ ?"

बालक : "माँ—माँ।"

स्त्री "क्या है, बेटा ?"

बालक "माँ, सब लडके कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतग उडानेका नियम है।"

स्त्री . "हुँः नियम है। पतग नही उडाया करते अच्छे लडके।"

बालक "क्यो, माँ ? मुझे तो पतग बहुत अच्छी लगती है.. "

स्त्री : "न। उड जाने वाली चीजोंको प्यार नहीं करना चाहिए। छोड कर चली जाती है तो दु.ख होता है।"

बालक : "वह उड थोडे ही जायगी ? मै फिर उतार लूँगा—मेरे पास ही तो रहेगी.. "

स्त्री . "मै पतंग होती तो उड जाती, दूर—दूर। फिर कभी वापस न आती।"

बालक . [आहत] "हमे छोड जाती माँ ?"

स्त्री : "तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतगमे मस्त रहते, तुम्हें ध्यान ही न आता।

बालक : "नही माँ, मुझे तो बहुत अच्छी लगती हो। मुझे नहीं चाहिए पतग-वतग, मै तुम्हारे पास बैठूँगा—

स्त्री · "अरे छोड मुझे . दगा न कर। जा, पिताजीके साथ जाकर बगीचा देख आ।"

बालक : वहाँ क्या है ?"

स्त्री : [जैसे याद करती हुई] "है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते है.. वहाँ कोयल कूकती है. वही तो वसन्त है।"

बालक : [मान भग] हमे नही चाहिए वहाँका वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, मा. तुम हँसती क्यो नही ? अरे, तुम तो उदास हो गईं. "

स्त्री : [सोचती हुई] "यह तो उन दोनोने नहीं कहा था. वह कहता था मे आशा हूँ, वसन्त मै हू। वह कहता था मे अनुभव हू, वसन्त मै हूं। मुझे तो किसीने नही कहा कि वसन्त तुम हो...फूलोंका खिलना भी और पतझड भी, समीर भी और धूलका अन्धड भी. ."

बालक : "माँ—किसने कहा था, माँ ?"

स्त्री . 'किसीने नही बेटा, मेरी चेतनाने। तू तो केवल पतगका वसन्त जानता है, मगर मुझमे बहुतसे वसन्त है, कुछ मीठे. कुछ फीके, कुछ हँसते. कुछ उदास।'

बालक : "उन सबमें सबसे अच्छा कौन-सा है, माँ ?"

स्त्री : [सहसा मुग्ध होकर] "सबसे अच्छा वसन्त तू है, बेटा। तू हँसता रह, फूल-फल ..."

और अब नेपथ्यमें बाँसुरी क्रमशः स्पष्ट होने लगती है। मानो अब वह स्पष्ट हो जायगी तो फिर मन्द नहीं पड़ेगी, फिर बजती ही रहेगी, उसमें नया धीरज जो आ गया है।

बालक : "वाह ! मैं कोई पौधा हूँ. ..."

स्त्री : "हाँ, यह तू क्या जाने। तू मेरी सारी आशाओंका, सारे अनुभवका पौधा है, मेरे युगों-युगोंका वसन्त।"

बाँसुरी बिल्कुल स्पष्ट बजने लगती है, अपने आत्म-विश्वाससे वातावरणको गुँजाती हुई, उसके प्राणोंमें अपने स्वरको बसा देती हुई। और बाँसुरीके साथ-साथ गानके शब्द भी स्पष्ट होने लगते हैं।

"किंशुकोंकी आरती सजाके बन गई वधू वनस्थली।
डाल-डाल रङ्ग छा गया।
जागो, जागो
जागो सखि वसन्त आ गया !"

हीली-चोन्की बत्तख़ें

●

हीली-बोन्‌ने बुहारी देनेका ब्रुश पिछवाड़ेके बरामदेके जगलेसे टेककर रखा और पीठ सीधी करके खडी हो गई। उसकी थकी-थकी-सी आँखे पिछवाडेके गीली लाल मिट्टीके काई-ढके किन्तु साफ फर्शपर टिक गईं। काई जैसे लाल मिट्टीको दीखने देकर भी एक चिकनी झिल्लीसे उसे छाये हुए थी, वैसे ही हीली-बोन्‌की आँखोंपर भी कुछ छा गया जिसके पीछे आँगनके चारों ओर तरतीबसे सजे हुए जरेनियमके गमलो, दो रगीन बेतकी कुर्सियो और रस्सीपर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपडोकी प्रतिच्छवि रहकर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उसके मनपर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिससे उसकी इन्द्रियोंकी ग्रहणशीलता तो ज्यो-की-त्यो रही है पर गृहीत छापको मन तक पहुँचाने और मनको उद्वेलित करनेकी प्रणालियाँ रुद्ध हो गई है

किन्तु हठात् वह चेहरेका चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा होकर तन आया, इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल—हीली-बोन्‌के मुँहसे एक हल्की-सी चीख निकली और वह बरामदेसे दौडकर आँगन पार करके एक ओर बने हुए छोटे-से बाडेपर पहुँची, वहाँ उसने बाडका किवाड खोला और फिर ठिठक गई। एक और हल्की-सी चीख उसके मुँहसे निकल रही थी, पर वह अध-बीचमे ही स्वर-हीन होकर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गई।

पिछवाडेसे कुछ ऊपरकी तरफ पहाडी रास्ता था, उसपर चढते हुए व्यक्तिने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुडकर उसने हीली-बोन्‌की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर जरा बढकर बाडेके बीचके छोटे-से बाँसके फाटकको ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भावसे बोला, "खू-ब्लाई!"

हीली-चोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषाका 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है? फिर भी खासिया जातिके सुलभ आत्म-विश्वासके साथ तुरन्त सँभलकर और मुसकराकर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई !" और क्षण-भर रुककर फिर कुछ प्रश्न सूचक स्वरमें कहा, "आइये ? आइये ?"

आगन्तुकने पूछा, "मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—'

"नहीं, वह कुछ नहीं"—कहते कहते हीलीका चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइये, देखिये।"

बाड़ेकी एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फर्श रक्तसे स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फ़र्शपर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनोंकी छापें थी।

आगन्तुकने कहा, "लोमड़ी।"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसोंमें कभी ऐसा नहीं हुआ था, पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखोंपर सारे मण्डलके गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम' के पास भी ऐसा बढ़िया झुंड नहीं था ! पर अब—" हीली चुप हो गई।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फर्शको और बत्तखोंको देखता रहा। फिर उसने एक बार सिरसे पैर तक हीलीको देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ ?"

"कहिये।"

"मैं यहाँ छुट्टीपर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्‌ख्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकारका मुझे शौक़ है। अगर आप इजाज़त दें तो मैं इन

डाकूकी घातमे बैठूँ—" फिर हीलीकी मुद्रा देखकर जल्दीसे, "नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, मै तो ऐसा मौक़ा चाहता हूँ। आपके पहाड बहुत सुन्दर हैं, लेकिन लडाईसे लौटे हुए सिपाहीको छुट्टीमें कुछ शगल चाहिए।"

"आप ठहरे कहाँ है ?"

"बॅगलेमे। कल आया था, पाँच छ: दिन रहूँगा। सवेरे-सवेरे घूमने निकला था, इधर ऊपर जा रहा था कि आपकी आवाज सुनी। आपका मकान बहुत साफ और सुन्दर है—"

हीलीने एक रूखी-सी मुसकानके साथ कहा,—"हाँ, कोई कचरा फैलानेवाला जो नहीं है। मै यहाँ अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुकने फिर हीलीको सिरसे पैर तक देखा। एक प्रश्न उसके चेहरेपर झलका, किन्तु हीलीकी शालीन और अपनेमे सिमटी-सी मुद्राने जैसे उसे पूछनेका साहस नहीं दिया। उसने बात बदलते हुए कहा, "तो आपकी इजाजत है न ? मै रातको बन्दूक़ लेकर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूँ कि कैसी जगह है और किधरसे किधर गोली चलाई जा सकती है।"

"आप शौकिया आते है तो जरूर आइये। मै इधरको खुलनेवाला कमरा आपको दे सकती हूँ—" कहकर उसने घरकी ओर इशारा किया।

"नहीं नहीं, मै बरामदेमें बैठ लूँगा—"

"यह कैसे हो सकता है ? रातको आँधी-बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नहीं सकी रात। वैसे आप चाहें तो बरामदेमे आरामकुर्सी भी डलवा दूँगी। कमरेमें सब सामान है।" हीली कमरेकी ओर बढी, मानो कह रही हो, "देख लीजिये।"

"आपका नाम पूछ सकता हूँ ?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेमके दीवान थे।"

"मेरा नाम दयाल है—कैप्टेन दयाल। फौजी इञ्जीनियर हूँ।"

"बड़ी खुशी हुई। आइये—अन्दर बैठेंगे?"

"धन्यवाद—अभी नहीं। आपकी अनुमति हो तो शामको आऊँगा। गुड्-बाई—"

हीली कुछ रुकते स्वरमें बोली, "गुड्-बाई।" और बरामदेसे मुड़कर खड़ी हो गई। कैप्टेन दयाल बाड़ेमेंसे बाहर होकर रास्तेपर हो लिये और ऊपर चढ़ने लगे, जिधर नई धूपमें चीड़की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच बीचमें बुरूसके गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़के भी हृदय है, जंगलके भी हृदय है ..

[२]

दिनमें पहाड़की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग सी दीप्त: पर साँझके आलोकमें जैसे लाल ही पहले काला पड़ जाता है। हीली देख रही थी, बुरूसके वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये हैं, जब कि चीड़के वृक्षोंके आकार अभी एक दूसरेसे अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्या रंग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जब कि परिपार्श्वकी एकरूपता बनी रहती है?

हीलीका मन उदास होकर अपनेमें सिमट आया। सामने फैला हुआ नाट्-ब्लेमका पार्वतीय सौन्दर्य जैसे भाफ बनकर उड़ गया, चीड़ और बुरूस, चट्टानें, पूर्वपुरुषों और स्त्रियोंकी खड़ी और पड़ी स्मारक शिलाएँ, घासकी ढीली-सी लहरें, दूर नीचे पहाड़ी नदीका ताम्र-मुकुर, मखमली चादरमें रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडंडी—सब मूर्त आकार पीछे हटकर तिरोहित हो गये। हीलीकी खुली आँखें भीतरकी ओरको ही देखने लगीं—जहाँ भावनाएँ ही साकार थीं, और अनुभूतियाँ ही मूर्त...

हीलीके पिता इस छोटे-से मातृलिक राज्यके दीवान रहे थे। हीली तीन सन्तानोंमें सबसे बड़ी थी, और अपनी दोनों बहनोंकी अपेक्षा

अधिक सुन्दर भी। खासियोंका जाति-सगठन स्त्री-प्रधान है, सामाजिक सत्ता स्त्रीके हाथोंमें है और वह अनुशासनमें चलती नहीं, अनुशासनको चलाती हैं। हीली भी मानो नाङ्-क्लेमकी अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्-क्रेम'के नृत्योत्सवमें, जब सभी मण्डलाके स्त्री-पुरुष खासिया जातिके अधिदेवता नगाधिपतिकी बलि देते थे और उसके मर्त्य प्रतिनिधि अब 'सियेम'का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्यमण्डलीमें हीली ही मौन सर्व-सम्मतिसे नेत्री हो जाती थी, और स्त्री-समुदाय उसीका अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दायें और पीछे ..नृत्यमें अंग सञ्चालनकी गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उसके पीछे-पीछे, सारा समुद्र उसकी अंग-भंगिमाके साथ लहरें लेता था.

एक नीरस सी मुसकान हीलीके चेहरेपर दौड गई। वह कई बरस पहलेकी बात थी अब वह चोंतीसवाँ वर्ष बिता रही है, उसकी दोनों बहनें ब्याह करके अपने-अपने घर रहती हैं, पिता नहीं रहे और स्त्री-सत्ताके नियमके अनुसार उनकी सारी सम्पत्ति सबसे छोटी बहिनको मिल गई। हीलीके पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बगीचा—देखनेमें आधुनिक साहिबी ढगका बँगला, किन्तु उस काँच और पर्दोंके आडम्बरको सँभालने वाली इमारत वास्तवमें क्या है? टीनकी चादरसे छता हुआ चीडका चौखटा, नरसलकी चटाईपर गारेका पलस्तर और चारों ओर जरेनियम, जो गमलेमें लगा लो तो फूल है, नहीं तो निरा जंगली बूटी ..

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाङ्-क्रेम'की रानी आज अपने चौंतीसवें वर्षमें इस कुटीके जरेनियमके गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवनमें ही नहीं, अपने सारे गाँवमें अकेली है?

अभिमान? स्त्रीका क्या अभिमान? और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सबसे बडी थी, केवल उत्तर-

नागिनी! हीलीके ओठ एक विद्रूपकी हँसीसे कुटिल हो आये। युद्धकी अशान्तिके इन तीन-चार वर्षोंमें कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप, उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित, याचक, पाप सकुचित, दर्प-स्फीत मुद्राएँ.. और वह जानती थी कि इन चेहरों और मुद्राओंके साथ उसके गाँवकी कई स्त्रियोंके सुख-दुःख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकांक्षा और सन्ताप उलझ गये थे, यहां तक कि यहांके वातावरणमें एक पराया और दूषित तनाव आ गया था। किन्तु वह उससे अछूती ही रही थी। यह नहीं कि उसने इसके लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नहीं, वह जैसे उसके निकट कभी यथार्थ ही नहीं हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नहीं है। वह बाँबी क्या, जिसमें साँप नहीं बसता? हीलीकी आँखें सहसा और भी घनी हो आईं—नहीं, इससे आगे वह नहीं सोचना चाहती। व्यथा मर कर भी व्यथासे अन्य कुछ हो जाती है? बिना साँपकी बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टीका ढूह! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करनेको कुछ था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नहीं कुछ नहीं सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है? सोच सब बादमें होता है, जब सोचनेको कुछ नहीं होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बड़ी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेशमें और नहीं हैं। उसे विशेष चिन्ता नहीं है, बत्तखोंके अण्डोंसे इस युद्धकालमें चार-पाँच रुपये रोजकी आमदनी हो जाती है, और उसका खर्च ही क्या है? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमड़ी, किन्तु वह कुछ दिनकी बात है—उसका तो उपाय करना ही होगा। वह फ़ौजी अफसर जरूर उसे मार देता—नहीं तो कुछ दिन

बाद थेड्-क्यूके इधर आनेपर वह उसे कहेगी कि तीरसे मार दे या जाल लगा दे कितनी दुष्ट होती है लोमडी—क्या रोज दो-एक बत्तख खा सकती है? व्यर्थका नुकसान—सभी जन्तु जरूरतसे ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

बरामदेके काठके फर्शपर पैरोंकी चाप सुनकर उसका ध्यान टूटा। कैप्टेन दयालने एक छोटा-सा बेग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिये, मैं आ गया।" और कन्धेसे बन्दूक उतारने लगे।

"आपका कमरा तैयार है। खाना खायेंगे?"

"धन्यवाद—नहीं। मैं खा आया। रात काटनेको कुछ ले भी आया बेगमें। मैं जरा मौक़ा देख लूँ, अभी आता हूँ। आपको नाहक तकलीफ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीलीने व्यग्यपूर्वक हँसकर कहा, "इस घरमें न सही, पर खासिया घरोंमे अक्सर पल्टनिया अफसर आते हैं—यह नही हो सकता कि आपको बिल्कुल मालूम न हो।"

कैप्टेन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचे वालो ने हमेशा पहाडवालोके साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिये कि पातालवासी शैतान देवताओंसे बदला लेना चाहते है।"

"हम लोग मानते है कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनोको जोडनेवाली धमनी इन्सानने काट दी। तबसे दोनो अलग है और पृथ्वीका घाव नहीं भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टेन दयाल बाड़ेकी ओर चले गये। हीलीने भीतर आकर लैम्प जलाया और बरामदेमें लाकर रख दिया, फिर दूसरे कमरेमें चली गई।

[३]

रातमें दो-अढाई बजे बन्दूककी 'धाँय !' सुनकर हीली जागी, और उसने सुना कि बरामदेमें कैप्टेन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे हैं। शब्दसे ही उसने जाना कि वह बाहर निकल गये हैं, और थोड़ी देर बाद लौट आये हैं। तब वह उठी नहीं, लोमड़ी जरूर मर गई होगी और उसे सवेरे भी देखा जा सकता है, यह सोचकर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते-न फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेशके बँगलोंकी दीवारें असलमें तो केवल काठके परदे ही होते हैं, हीलीने जाना कि दूसरे कमरेमें कैप्टेन दयाल जानेकी तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दीसे उठी, आग जलाकर चायका पानी रख, मुँह-हाथ धोकर बाहर निकली। क्षण भर अनिश्चयके बाद वह बत्तखोंके बाड़ेकी तरफ जानेको ही थी कि कैप्टेन दयालने बाहर निकलते हुए कहा, "गुड-मार्निंग, मिस थियो, शिकार जख्मी तो हो गया पर मिला नहीं, अब खोजमें जा रहा हूँ।"

"अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

"खूनकी निशानोंसे। जख्म गहरा ही हुआ है—घसीटकर चलनेके निशान साफ दीखते थे। अब तक बचा नहीं होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकूको देखूँ तो—" कहकर हीली लपककर एक बड़ी 'डाओ' उठा लाई और चलनेको तयार हो गई।

खूनके निशान चीड़के जंगलको छूकर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरेंतकी झाड़ियाँ, जिनके पीछे एक छोटा सा झरना बहता था। हीलीने उनका जल कभी देखा नहीं था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरेंतका झुरमुट उसे बिलकुल छाये हुए था। निशान झुर-मुट तक आकर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयालने कहा, "इसके अन्दर घुसना पड़ेगा। आप यहीं ठह-रिये।"

"उधर ऊपरसे शायद खुली जगह मिल जाय—वहाँसे पानीके साथ-साथ बढ़ा जा सकेगा—" कहकर हीली बायेंको मुड़ी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जाकर झाड़ियाँ कुछ विरली हो गई थीं और उनके बीचमें घुसनेका रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूकके कुन्देसे झाड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटाई हुई लचकीली शाखाओं के प्रत्याघातको अपनी डाओंसे रोकती हुई चली।

कुछ आगे चलकर झरनेका पाट चौड़ा हो गया—दोनों ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिनके ऊपर जरैंत और हालीकी झाड़ी इतनी घनी छाई हुई कि भीतर अँधेरा हो, परन्तु पाट चौड़ा होनेसे मानो इस आच्छादनके बीचमें एक सुरंग बन गई थी जिसमें आगे बढ़नेमें विशेष असुविधा नहीं होती थी।

कैप्टेन दयालने कहा, "यहाँ फिर खूनके निशान हैं—शिकार पानी-में से इधर घिसटकर आया है।"

हीलीने मुँह उठाकर हवाको सूँघा मानो सील और जरैंतकी तीव्र गन्धके ऊपर और किसी गन्धको पहचान रही हो। बोली, "यहाँ तो जानवर की—"

हठात् कैप्टेन दयालने तीखे फुसफुसाते स्वरसे कहा, "देखो—श्-श्!"

ठिठकनेके साथ उनकी बाँहने उठकर हीलीको भी जहाँका तहाँ रोक दिया।

अन्धकारमें कई-एक जोड़े अंगारे-से चमक रहे थे।

हीलीने स्थिर दृष्टिसे देखा। करारेमें मिट्टी खोदकर बनाई हुई खोहमें—या कि खोहकी देहरीपर—नर लोमड़का प्राणहीन आकार दुबका पड़ा था—कासके फूलकी झाड़ू-सी पूँछ उसकी रानोंको ढँक रही थी जहाँ गोलीका जख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमड़ी उस शवपर झुकी खड़ी थी, शवके सिरके पास मुँह किये मानो उसे चाटना चाहती हो और फिर सहमकर रुक जाती हो। लोमड़ीके पाँवोंसे उलझते हुए तीन छोटे छोटे बच्चे कुनमुना रहे थे। उस कुनमुनानेमें भूखकी आतु-रता नहीं थी; न वे बच्चे लोमड़ीके पेटके नीचे घुमड़-घुमड़ करते हुए भी उसके थनोंको ही खोज रहे थे. .माँ और बच्चोंमें किसीको ध्यान नहीं था कि गैर और दुश्मन की आँखें उस गोपन घरेलू दृश्यको देख रही हैं।

केप्टेन दयालने धीमे स्वरसे कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीलीकी ओरसे कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पाकर उन्होंने मुड़कर देखा और अचकचाकर रह गये।

पीछे हीली नहीं थी।

थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतस्थ होकर उन्होंने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोड़ी देर वह लोमड़ीको और बच्चोंको देखते रहे। तब "हूँह, मुझे क्या !" कहकर वह अनमने-से मुड़े और जिधरसे आये थे उधर ही चलने लगे।

[४]

हीली नंगे पैर ही आई थी, पर लौटती बार उसने शब्द न करनेका कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नही जानती थी। झुरमुटसे बाहर निकल-कर वह उन्मादकी तेजीसे घरकी ओर दौडी, और वहाँ पहुँचकर सीधी बाडेमे घुस गई। उसके तूफानी वेगसे चौककर बत्तखे पहले तो बिखर गईं पर जब वह एक कोनेमे जाकर बाडेके सहारे टिककर खडी अपलक उन्हें देखने लगी तब वे गर्दनें लम्बी करके उचकती हुई-सी उसके चारों ओर जुट गईं और 'कक्! क-क्' करने लगी।

वह अधैर्य हीलीको छू न सका, जैसे चेतनाके बाहरसे फिसलकर गिर गया। हीली शून्य दृष्टिसे बत्तखोंकी ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तखने गर्दनसे उसके हाथको ठेला। हीलीने उसी शून्य दृष्टिसे हाथकी ओर देखा। सहसा उसका हाथ कडा हो आया, उसकी मुट्ठी डाओके हत्थेपर भिच गई। दूसरे हाथसे उसने बत्तखका गला पकड लिया और दीवारके पास खींचते हुए डाओके एक झटकेसे काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चयसे उसने दूसरी बत्तखका गला पकडा, भिंचे हुए दाँतोंसे कहा "अभागिन!" और उसका सिर उडा दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवी ग्यारह बार डाओ उठी और 'खट्' के शब्दके साथ बाडेका खम्भा काँपा, फिर एक बार हीलीने चारो ओर नजर दौडाई और बाहर निकल गई।

बरामदेमे पहुँचकर जैसे उसने अपनेको सँभालनेको खम्भेकी ओर हाथ बढाया और लडखडाती हुई उसीके सहारे बैठ गई।

कैप्टेन दयालने आकर देखा, खम्भेके सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिसके हाथ लथपथ है और पैरोंके पास खूनसे रँगी डाओ पडी है। उन्होंने घबराकर कहा, "यह क्या मिस यिर्वा?" और फिर उत्तर न पाकर

उसकी आँखोंका जड विस्तार लक्ष्य करते हुए उसके कन्धेपर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से "क्या हुआ, हीली—"

हीली कन्धा झटककर, छिटककर परे हटती हुई खड़ी हो गई और तीखेपनसे थर्राती हुई आवाजसे बोली, "दूर रहो, हत्यारे!"

कैप्टेन दयालने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीलीकी आँखोंमें वह निर्व्याज सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वतका चिरन्तन विजन सौन्दर्य है।

वे दूसरे

❁

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप बालूकी ओर देखता रहा। यह नहीं कि उसके मनमें शून्य था, यह भी नहीं कि मनकी बात कहनेको शब्द बिलकुल ही नहीं थे, केवल यही कि बालू पर उसके अपने पैरोंकी जो छाप पडी हुई थी—गीली बालू पर, जो चिकनी पाटीकी तरह होती है—उसमे उसके लिए एक आकर्षण था जिसमें निरा कौतूहल नहीं, जिज्ञासाकी एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उसके पास तक आकर लौट जाती थीं—क्या कोई बडी लहर आकर उस छापको लील जायगी? क्या एक ही लहरमे वह छाप मिट जायगी—या कि केवल हल्की पड जायगी—मिटनेके लिए कई लहरोंको आना होगा, जिन लहरोंको पैदा करनेके लिए समुद्रकी, पृथ्वीकी आन्तरिक हलचलकी, चन्द्र-सूर्य-तारागणके आकर्षणकी एक विशेष अन्योन्य-सम्बद्ध स्थितिको बार-बार आना होगा क्या उसका एक-एक अनैच्छिक पद-चिह्न मिटानेके लिए सारे विश्व-चक्रके एक विशेष आवर्तनकी आवश्यकता है?

"कोरा अहकार!" उसने अपनेको झकझोरनेके लिए कहा, "कोरा अहकार! इस लिए नहीं कि बात मूलत: झूठ है, इस लिए कि उसको तूल देना झूठ है। झूठ मूलत तथ्यका नहीं, आग्रहका, दृष्टिका दोष है: झूठ-सच विषयी पर आश्रित, सापेक्ष्य हैं, तथ्य विषयीसे परे और निरपेक्ष है।"

और तब उसने अपनी साथिनसे कहा, "सुधा, मै कह नहीं सकता कि मेरे मनमें कितनी ग्लानि है और मैं जानता हूँ कि वह वर्षों तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुतापका यह बोझ मै सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—"क्षण-भर रुक कर उसने सुधाके चेहरेकी ओर देखा—"लेकिन मै नहीं चाहता कि कटुताका बोझ तुम्हे भी ढोना पड़े या कि तुम उसे याद भी रखो। और—"

वह फिर थोड़ी देर चुप हो गया। इस लिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था, उसे झिझक थी, और इस लिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थल पर सुधा उसकी बात काट कर कुछ कह दे, जिससे उसे कुछ सहारा मिल जाय।

पर सुधाने कुछ कहा नहीं। वह पिघली भी नहीं। हेमन्तने यह आशा तो नहीं की थी कि उसपर भी अनुतापका इतना गहरा बोझ होगा कि उसे उदार बना दे, पर इतनेकी आशा उसने शायद की थी कि सुधामें और नहीं तो करुणाका ही इतना भाव होगा कि उसकी सच्ची भावनाको स्वीकार करा दे। पर सुधाने जल्दीसे मुँह फेर लिया—और हेमन्तने देखा कि उस फिरते हुए मुँह पर एक मुसकान दौड़ने वाली है—विजयके गर्व की मुसकान—मानो कहती हो कि 'अब जाकर तुम जानोगे, अनुतापकी आगमें जलोगे तो मुझे शान्ति मिलेगी—तुम जिसने मुझे सताया-जलाया—"

ऐसी विदाकी उसने कल्पना नहीं की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योंकि जब साथ रहना असम्भव पाकर वे अलग हुए, और इतनी कटुताके बाद तलाक हुआ ही तब और अलग विदा लेना चाहनेका क्या मतलब था? क्या वह कलाकारका दम्भ ही नहीं है कि वह पराजयका भी सुघर रूप देना चाहे? अन्तका सौन्दर्य उसकी सुचारुतामें, सुघराईमें नहीं है, करुणामें भी नहीं है, वह उसके अपरिहार्य अन्तिमपन और काठिन्यमें है... अन्त सुन्दर है क्योंकि वह महान् है, क्योंकि हम उसका कुछ नहीं कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते हैं..

किन्तु उसका मन नहीं माना। देखकर भी उसने सुधाकी गर्वीली मुसकान देखनी नहीं चाही। क्योंकि वह तो निरी मृत्यु-पूजा है। अन्त इस लिए महान् है कि हम उसके आगे अशक्त हैं?—नहीं, हमारी स्वीकृतिका संयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उसने पूरा साहस बटोर कर अपने मनकी बात कह ही डाली, "और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथकी कटुता-को—दुबारा विवाहकी बात तुम्हारे मनमे उठे, तो—तो मुझे बडी सान्त्वना मिलेगी—मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नही, यह तो नहीं कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मैं सदाके लिए शाप न बना, कि—"

अब सुधा फिर उसकी ओर मुडी। अब उसने अपनेको वशमे कर लिया था—वह अप्रतिहत मुसकान उसके चेहरेपर नहीं थी। उसने रूखे स्वरसे कहा, "मेरे विवाहकी बात सोचनेकी, तुम्हें जरूरत नही है। हाँ, उससे तुम अपनेको अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मै समझती हूँ।"

हेमन्त थोडी देर बोल ही नहीं सका। फिर जब उसने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उसने पाया कि वह चाहता नहीं है। तीन वर्षोंकी व्यर्थ चेष्टामे, अलग होनेकी कटुतामे और फिर तलाककी क़ानूनी कार्रवाईके ग्लानि-जनक प्रसगमे वह जितना नही टूटा था, उतना, इस एक क्षणमे टूट गया। उसने आँखे फिर पैरकी उसी छापपर टिका लीं—एक लहर आकर उसपर हल्के हाथसे लिपाई कर गई थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छापका आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहरके पीछे हटनेके साथ पैरकी छापमे भरा हुआ पानी एक ओर को मानो मोरचा तोडकर बह निकला था और उधरको बालूमें एक नई लीक पड़ गई थी—इस छापको मिटाना ही होगा—लहरको आना ही होगा, यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नहीं तो सब गलत है, सब व्यवस्था गलत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थहीन विसगति है—पर वह वैसी हो नही सकती—

वह आँखोंसे उस पैरकी छापको पकड़े रहेगा। उसमें स्वास्थ्य है—उसके सहारे यथार्थसे उसका सम्बन्ध जुड़ा है—उस यथार्थसे जिसमें भावनाएँ अर्थ रखती हैं, और स्पन्द हैं: नहीं तो यथार्थ तो सब कुछ है जो है—पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूल-भुलैया हो जायें—

उसने फिर कहा, "मैं यहाँसे कटुताकी स्मृति भी वापस न लेकर जाऊँगा, यही सोचकर यहाँ आया था। और इसी लिए सागरके किनारे—कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और—" वह फिर रुक गया, उसके वाक्यकी गढ़न ठीक नहीं थी क्योंकि इसके अर्थ दोनों तरफ लग सकते हैं और वह केवल अपनी क्षुद्रताकी बात करना चाहता है, इस वक्त आरोप-अभियोग उसमें नहीं है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति...

एक और लहर आयी, जिसके उफनते झाग पैरकी छापके बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झागके बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्तने देखा, छाप मिट गई है। या कि नहीं, उसकी झाँईं-सी अभी दीखती है? नहीं, निश्चय ही वह उसका भ्रम है, और कोई कुछ न देख सकता, वह इसलिए देखता है कि उसे याद है—

'याद' है! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओंको हम केवल स्मृति के—स्मरण-भ्रमके!—जोरसे सच बनाये रहते हैं? सागरका जो तट मीलों तक फैला है—मीलों क्यों, अगर कोई चीज भौतिक यथार्थके उस छोरसे उस छोर तक, उस सीमासे उस सीमा तक, इस असीमसे उस असीम तक फैली है तो वह सागरका तट है। इसीपर एक अदृश्य पैरकी छापको मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टतासे कि उसने मेरा जीवन बेध रखा है—क्या यह यथार्थ है? क्या देखना यथार्थ है? क्या—

× × ×

वे दूसरे

हेमन्त देखता है—

वे दोनो पहाडीकी चोटीपर खडे हैं। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है—छोटी-छोटी पहाडियोंसे घिरी हुई-सी झील जो साँझके आलोक मे ऐसी है माना रग विरगा और मखिल आकाश ही जमकर नीचे बैठ गया हो, ऊपर पहली शरद्के मेघ जिन्हें डूबते सूरजकी आभाने रँग दिया है—पीला, लाल, धूमिल बैंगनी। और ऊपर एक अकेला तारा। लेकिन हेमन्त उस दृश्यमे नहीं है। वह सुधाके साथ भी नहीं है। वह कहीं और हो, ऐसा नहीं है, वह सुधा और हेमन्तको इस परिपार्श्वमे जैसे बाहरसे देख रहा है, वह भी पीछेसे—और सोच रहा है कि उन दोनोंकी पीठ इस झील और आकाशके परदे पर कैसी दीखती होगी? क्या उन पीठोमे, उन छायाकृतियोके परस्पर रखाव-झुकावमे, इस बातका कोई सकेत है कि ये दो—प्रेमी है, या कि पति-पत्नी है, विवाहके सप्ताह भर बाद ही इस पहाडी झीलको सैर, एकान्त सैरके लिए आये है, इस लिए 'हनीमूनर' युगल है? वह जानता है कि ऐसा कोई सकेत नही है, क्योकि यह झूठ है। तथ्य सब ठीक है—पर आग्रहकी चूक है, भावनाकी चूक है। और निरा तथ्य तब तक सत्यकी अभिधा नही पाता जब तक उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो..

बल्कि वह साथ भी नही है। मानो वह अगर हाथ बढाकर सुधाका हाथ पकड लेगा तो भी उसे छूएगा नही क्योंकि दोनों एक भावनात्मक दूरीकी चादरमे लिपटे हुए है।

सुधाने धीरेसे कहा, "हम यहाँ नही होंगे, तब भी यह तारा ऐसा ही चमकेगा। पर जैसे हम आज इसे देख रहे है, वैसे और कोई नहीं देखेगा—यह आज इस क्षणका तारा है।"

हेमन्तको थोडा-सा अचम्भा हुआ। क्या यह सच है? ऐसे क्षणपर भावुकता क्या जरूरी है? जो सच होता तो मौनमें भी प्रकट होता, वह

जब सच नहीं है तो क्या इस बातको भी मौनमें ही न छिपे रहना चाहिए? पर यह वह कह भी कैसे सकता है? लेकिन उसे कुछ कहना है, क्योंकि दूसरा जो उत्तर हो सकता है—कि सुधाका हाथ पकड़ा कर धीरेसे दबा दिया जाता—वह उत्तर भी झूठ है..

उसने कहा, "तारे सबके अलग-अलग होते हैं।" इस वाक्यमें चाहे जितना जो अर्थ पढ़ा जा सकता है. अधिक या कम. और अपने मनका सच भी उसने कह दिया है. छिपाया नहीं है..

सुधाने उसकी ओर देखा। क्या हेमन्तको भासा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आखोंमें नहीं थी. तत्काल याद आयी—कुछ अचकचाहटके साथ?

सुधा बोली, "क्या सुन्दरमें हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नहीं सकते?"

"सकते हैं। अपने-अपने एकान्तका लय—" और रुक गया। लेकिन मनके भीतर कुछ बोला, "सुन्दरमें, लेकिन एक दूसरेमें नहीं, एक-दूसरेमें नहीं।"

अपनेको लय करनेके लिए सागरकी विशालतासे अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है? कितने लोग सागर तटपर खड़े-खड़े इयत्ताको उसमें विलीन कर देते होंगे. लेकिन उससे क्या एक-दूसरेके कुछ भी निकट आ सकते होंगे? सागरमें डूबकर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नहीं बनी रहती? जो डूब नहीं होती. डूब हो नहीं सकती...

और सागरकी लाली. पैरकी छापको मिटानेसे पहले उसमें छेद करती है. दरार डालती है, नयी लीक बना देती है.

हेमन्तने सिर देखा.

नदी पर बजरा धीरे धीरे बढ़ रहा है। उसके डोलनेसे, और बाहर लकड़ी पर पड़ती माँझीकी दबी हुई पद-चापसे ही मालूम हो रहा है कि

यह वह रहा है, क्योंकि जहाँ वह बैठा है, वहाँ चारों ओरके परदे खिंचे हुए हैं, बाहर कुछ नहीं दीख रहा है। कहीं भी कुछ भी दीख रहा है, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका शरीर एक अन्य शरीरसे उलझा-गुँथा हुआ है और उन गुथनमें सुलझावकी, तारतम्यकी कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देने वाली वासना केवल धुआँ दे रही है जिससे आँखे कड़ुआ जाती है। क्यों नहीं सब कुछको दृष्टिसे बाहर करके, उस मन्द-मन्द दोलनपर झूलते हुए यह अपर-शरीरत्वका भाव मिटता—क्यों नहीं—

उसने किंचित् बलसे सुधाका परेको मुड़ा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उसकी आँखोंमें आँखें डालकर दोनों इस खाईको पार कर सकें—लेकिन सुधाकी आँखें जोरसे भिंची हुई थीं—क्यों? वासना अन्धकार माँगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वालामयी सृष्टिको अपने ढगसे देखे, यथार्थ उसमें बाधा न दे—पर बन्द आँखे—क्या वह ज्योतिःशरीर अन्धी आँखोंसे ही देखा जायगा? पर अन्धी आँखें पृथक् आँखें है, और वासना अगर युत नहीं है तो कुछ नहीं है—

उसने भर्राये स्वरमें कहा, "आँखें खोलो—"

वह जान सका कि आँखें खुलनेके साथ-साथ सुधाका शरीर सहसा कठोर पड़ गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखोंमें नहीं थी, उन आँखोंमें था—वह, वह दूसरा, और इसीलिए आँखें बन्द थीं—बाहर एक धुएँका खोल है जो उसे भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योतिः-शरीर जो —जो कहाँ है? क्या है भी?

और थोड़ी देरके लिए नावका दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्गति, सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासनाकी गुंजलक खुल गई थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जाकर परदा हटाकर बाहर देखने लगा था नदी किनारेके गाँवकी मुर्गाबियाँ कगारकी छाँहमें तैरती हुई, और सुधा अपने अस्त-व्यस्त कपड़ोंकी सलवटें ठीक करके पास

पडी चौकीके फूल सँवारने लगी थी। हेमन्तका मन आत्मग्लानिसे भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यों भूल सका, भूल नहीं सका, क्या उसकी अनदेखी करना चाह सका? सुधाकी आँखोंमें वह दूसरा है, और स्वयं उसकी अपनी—क्या उसकी आँखोंमें भी एक परछाईं नहीं है? और जब तक है तब तक यह उलझन, वह गुँथन उस ज्योतिःशरीरका किरण-जाल नहीं है केवल साँपकी कुंडली है जिसके दंशमें केवल मरण है...

और सुधाने कहा था, 'हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे?"

"क्या?"

"मैं, मेरे लिए शराब ला सकोगे? मैं शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गाबियाँ, कगारके कीचड़में चोंच किचकिचाती हुई मुर्गाबियाँ और उनके आस-पास बनते हुए लहरोंके वृत्त—जो सागरकी लहरोंमें घुल जाते हैं, और सागर वह रेतकी पैरोंकी छाप धीरे-धीरे मिटा देता है।

शराब वह लाया था। मूक विद्रोहसे भरा हुआ, पर लाया था। दोपहरको वे खाना खाने बैठे थे, और साथ सुधाने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहरको कोई नहीं पीता, खानेके साथ कोई नहीं पीता, कमसे-कम जिन-ह्विस्की जैसी भभकेकी शराबें, और उस ढंगसे—यह न वे ठीक जानते थे, न यह सोचनेकी बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरणको रंगीनी देने, बातचीतको आलोकित करनेके लिए नहीं थी, वह शराब स्वयं अपनी इन्द्रियोंको थपेड़ मारकर नष्ट कर देनेके लिए थी। हेमन्त देख रहा था; और केवल देखना, वह भी स्त्रीको शराब पीते, स्वयं ग्लानि जनक है, इस लिए साथ पी रहा था। और जब उसने देखा कि सुधाने वह निश्चयपूर्वक बहुत-सी अपने ग्लासमें एक साथ ढाल ली है तब मुख्यतया इसलिए कि सुधा और न पी सके, उसने सहसा बोतल उठाकर मुँहको लगा ली थी और सुधाके हाथा-पाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शराबोंमे स्वाद यो भी नही होता, और ऐसे पीनेमे तो और भी नहीं, उसे बडी जोरसे उबकाई आई थी, पर उसने किसी तरह उसे दबाकर चार-छः ग्रास खाना खा ही लिया था

फिर उसकी चेतना भी कुछ मन्द पड गई थी। याद सब कुछ है, और उसकी प्रत्येक हरकतमे एक स्पष्ट प्रेरणा भी काम कर रही थी जिसका उसे ध्यान भी था, पर जैसे उसके भीतरका कोई उच्चतर सचालक हथौडे की चोटसे चित्त हो गया हो, और ऐरे-गैरोंकी बन आई हो . उसने उठकर सब किवाड-खिडकियाँ बन्द कर दी थीं, परदे तान दिये थे। थी अभी दोपहर पर उसे अभी कुछ धुधला, कुछ नीला-सा दीखने लगा था, जैसी पानी के नीचे गोता लगाकर आँख खोलनेसे दीखता है। हवा भी जैसे पानी जैसे भारी और ठोस हो गई थी—चलनेमे उसे ऐसा जान पडता था जैसे वह पानीको ठेल-ठेलकर बढ रहा हो. जैसे ठीक प्रतिरोध तो कहीं न हो, लेकिन प्रत्येक अङ्गक्षेपमे अजीब जडता आ गई हो

इससे आगे उसे ठीक या स्पष्ट याद नही। यह नही कि स्मृति धुँधली हो गई है, शायद जिस बोधकी स्मृति है वही धुँधला, धुएँसे कडवा, मैला, एक जडता लिये हुए है, जैसे जाडेमे ठिठुरा हुआ साँप। उसे याद है कि कहीं नीले-नीले पानी-सेमे मछलियोंकी तरह नि.शब्दसे, वे दोनो एक दूसरेके पास आये थे, और जैसे मछलियाँ पानीमे भी बलखाती-सी मानो एक दूसरेसे सटती-सी, पेच देती-सी चली जाती है, उसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ गये थे...फिर सहसा उसने पाया था कि उन मछलियोंके पेच नहीं खुल रहे है, कि वह ठिठुरा हुआ साँप जैसे जाग उठा है और उसकी गुंजलकमे वे दोनों कसे जा रहे है, पर पानी नीला होता जा रहा है, और उनके कपडे भी मानो मोमसे जान पड रहे है, या कि है ही नही, केवल नीले पानीमे काँपती उनकी परछाई है, तभी तो उनके हाथोंकी पकडमें नहीं आते—

और फिर सब नीला ही नीला हो गया था, एक द्रव जिसमें वे जड होते जा रहे हैं, न उलझे, न अलग, गर्म पानीमें पडी हुई मोमकी बूँद जो न घुल सकती है, न जम सकती है।

और इसके बाद जो याद है, वह यह कि जब वह चौंककर जागा था और हडबडाकर उठा था कि वमी करनेके लिए कम से-कम यथास्थान पहुँच जाय, तब दिन छिप रहा था। मुँह-हाथ धोकर जब वह सख्त सिर-दर्द लिये कमरेमें लौटा था, तब सुधा सोई पडी थी। उसने नींदमें, या बीचमें जागकर, वहीं पास ही कै कर दी थी पर उसका भी उसे होश नहीं था...

और उसने सब किवाड-खिडकियाँ खोली थीं; नौकर बाहर मुसकराया था कि बाबूसाहब दिन भर किवाड बन्द करके सोये रहे, चाय-पानी और ब्यालूकी चिन्ता भूलकर—नई शादी है न..

तब उसने बैठकर सामने-सामने उस दूसरेकी बातको फिरसे सोचा था और गहरे बैठा लिया था.. जब विवाह हुआ था, तब दोनों जानते थे कि दोनोंका पहले अन्यत्र लगाव रहा है जो मिटा नहीं है, लेकिन जिसका कोई रास्ता भी नहीं है। एक विवाहित व्यक्ति था, और पति पत्नी दोनों ही सुधा के भी और हेमन्तके भी घने मित्र थे.. वह परिवार न टूटे, यह भी सबके ध्यानमें था, और विवाह हुआ तब जैसे यह भी एक बात पीछे कही थी कि अगर सभ्य समाजमें ऐसी उलझनें पैदा होती हैं, तो सभ्य व्यक्ति उसका सामना भी सभ्य तरीकोंसे कर सकता है; प्यार जहाँ है वहीं हो, और विवाह . विवाह तो सामाजिक सम्बन्ध है, व्यक्तिके जीवनमें यह बाधक हो ही, ऐसा क्यों?

वह अपनी भूल जानता और मानता है—जान गया। और भूल दोनों की थी, इस बातके पीछे उसने आड नहीं ली।

वह दूसरा.. क्या वह आज भी उस दूसरेकी बात कर सकता है? अपनी ओरसे, या दूसरी ओरसे? हेमन्तने सागरकी ओर देखा, उसकी

लहरमे उसे बुरूसके फूलोंका एक बडा-सा लाल गुच्छा दीखा, जो वास्तवमे किसीकी कबरीमे खोंसा हुआ है, कबरी और माथेकी रेखा भी उसे दीख गई, और ग्रीवाकी बंकिम भङ्गिमा, किन्तु चेहरा—वहाँ उसकी दृष्टि रुक गई। नहीं वह दूसरी थी—और आज भी वह कैसे कहे कि वह है नहीं केवल थी, यद्यपि वह जानता है कि वह होकर भी हेमन्तके जीवनसे सदाके लिए चली गई है। पर उसको इस झमेलेमें नहीं लाना होगा, वह अलग ही है। उसने कभी कुछ नहीं माँगा न प्यार, न व्याह न वासना वह देकर चली गई जैसे बिजली कौंधकर गिरकर मिट जाती है

और सुधा? हेमन्तको याद आया, व्याहके बाद सुधाको उस दूसरेकी एक चिट्ठी भी आई थी। कई दिन बाद। उसने देखी नहीं थी, कुछ पूछा नहीं था, सुधाको अनमना और अस्थिर देखकर भी नहीं। पर दूसरे-तीसरे दिन सुधाने ही कहा था, "यह चिट्ठी आई थी—पढ लो।"

और उसमे अनिच्छा स्पष्ट थी। 'मैंने कह दिया, मेरा कर्तव्य था। तुम इनकार करो पढनेसे, क्योंकि तुम्हारा भी वह कर्तव्य है—तुम्हें मुझ-पर विश्वास करना होगा!'

हेमन्तने चिट्ठी न लेते हुए कहा था, "क्या लिखा है?"

"कुछ नहीं—यों ही शुभ-कामनाएँ—और अपने इलाक़ेका वर्णन—"

हेमन्तने अनचाहे लक्ष्य किया था कि चिट्ठी लम्बी है। आशीर्वाद छोटे होते हैं खासकर उसके, जो वह दूसरा व्यक्ति हो उसकी आँखें चोरीसे कागजपर फिसलती हुई एक वाक्यपर रुक गई थीं. "और मैं सोचता हूँ कि तुम शीघ्र ही उसके बच्चेकी माँ भी होगी—उस बच्चेकी सूरत उस जैसी होगी, लेकिन वह तुम्हारी देह— ' और जैसे उसने स्वय चोरको पकड लिया हो, ऐसे चौंककर उसकी दृष्टि हट गई थी।

क्या वह बहुत बड़ा स्वीकार नहीं है ? किन्तु कैसी अद्भुत है यह बात, कि जिसकी आत्मा हम दूसरेको सौंपनेको तैयार हैं—क्योंकि उसके ब्याहकी बात स्वीकार करते हैं—उसीकी देहको सौंपते क्यों हमें इतना क्लेश होता है ? 'दूषित' या 'भ्रष्ट' क्या देह होती है, या मन—आत्मा ? या कि देहको हम देख, छू, सकते हैं, बस इतनी-सी बात है ?

उसने कहा था, "ठीक है, मैं पढ़कर क्या करूँगा। तुम उत्तर दे देना।" और उठकर हट गया था

बुन्सके गुच्छे गुच्छे लाल फूल ..वह भी क्या ऐसे ही सोचती–कहती ? कल्पनाका क्या भरोसा, लेकिन हेमन्त जानता है, कभी कुछ कहनेका अवसर उसे होता, या कुछ वह कहना चाहती, तो यही कहती "मैंने अपनी आत्मा तुम्हें दी है, इसलिए मेरी देह भी तुम लो—क्योंकि वह आत्माका खोल है। और उसके बदलेमें कुछ देना कभी मत चाहना, क्योंकि वह मेरे उस उपहारका अपमान है। तुम निरपेक्ष भावसे जब जो दोगे, मैं वर समझकर ले लूँगी.."

यह आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण है। लेकिन यही क्या एक मात्र सभ्य दृष्टिकोण नहीं है, जो हमारे सभ्य जीवनके बोझके नीचे दबा जा रहा है ?

× × ×

"तुम अपनेको अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे" ..स्मृतिका दंश। लेकिन नहीं, मन, इसपर मन अटक, यह व्यर्थ है। अत्यन्त व्यर्थ। हमारा जीवन हमसे है, उन दूसरोंसे नहीं, वे हमारे कितने ही निकट क्यों न हों, और हमारी न चाहनेकी उदारतामें ही हमारी स्वतन्त्रता है। पानेमें नहीं, न पानेकी याद करनेमें नहीं। पैरकी जो छाप सागर-तटकी बालूपर बन गई है, उसे सागरकी लहरोंमें धुल जाने दो, चाहे धीरे-धीरे यों हो, चाहे दरारोंमें फटकर...

"इसी लिए तुम्हें सागरके किनारेपर मिला, कि शायद अपनी क्षुद्रता यहाँ इतनी प्यारी न लगे—

और स्मृति? व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ। क्षमाकी पराजय, जीवनकी खाज...जीवनकी देन हमें या तो विनयपूर्वक स्वीकार करनी है,—जिस दशामें स्मृति वेकार है, विनय चरित्रका एक अग है और स्मृति केवल मस्तिष्कका एक गुण—या फिर अगर हममे विनय नहीं है, हमें स्वीकार नहीं है, तो स्मृति केवल एक कीडा है जिसके दशसे फोडे होते है, और हम केवल अपने फोडे चाटते रहते है। फोडे चाटना क्या सभ्य कर्म है, सागरका भी अपना विनय है, वह पैरोंकी छाप मिटाता है, दरारे मिलाता है, सागरका विनय मुग्ध नही करता, वह स्वास्थ्य-लाभको प्रेरित करता है—पैरोंकी छापें मिटाता हुआ

"सुधा, मै सच्चे दिलसे कहता हूँ—सागरकी कसम खाकर—मेरे मनमें कोई कटुता नही है। जो कुछ था, या होना चाहा था, उसे जब मिटा दिया तो कटुता क्यों अनिवार्य है? मेरा अपराधका बोध नहीं मिटा, न मिटेगा—पर तुम जाओ तो क्षमा करके जाओ—सागरकी तरह, और मै तो—"

उसकी आवाज फिर रुक गयी। तभी एक बडे जोरकी छाली आयी—हेमन्तके पैरकी छापको पार करती हुई, आगे बढकर हेमन्तके पैरोंको भी लिपट गयी। झागमे खडे-खडे उसने लम्बी साँस ली और कहा "सुधा, तुम सुखी रहो।"

सुधाकी मुसकराहटमे तीखापन था। उसने पीछे हटते हुए नमस्कार किया और चल पडी।

हेमन्त क्षण भर उसे देखता रहा। फिर उसने पैरोंकी ओर देखा, वह भगोड़ी छाली लौटती हुई उसके पैरोके तलेसे थोडी-सी बालू काट ले

गयी थी, और गीली रेत पर पड़े हुए तो सब पैरोंकी छाप बिलकुल मिट गयी थी—जैसे लिपी-पुती एक नयी वेदिका खड़ी हो

हेमन्तने लम्बी साँस ली। फिर जैसे सहसा याद करके देखा; सुधा दूर पर चली जा रही थी। और अभी तक वह अकेली थी, अब दूरके एक झाऊके पीछेसे एक और व्यक्ति उसके साथ हो लिया और क्षण ही भर बाद क़दमसे क़दम मिलाकर चलने लगा। हेमन्तने पहचाना, वही दूसरा...

पर वह चौंका नहीं। ठीक है। पैरोंकी छाप बिलकुल मिट गयी है। मन ही मन उसने सागरको प्रणाम किया।

इसी तरह पैरोंकी छाप मिट जायगी! सबसे पहले उसकी। धीरे-धीरे इन दूसरोंकी...सागर आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक है, स्वयं और संयत है। सभ्य है...

कविप्रिया

◎

शान्ता—कवि दिवाकरकी पत्नी

सुधा, मालती—शान्ताकी सहेलियाँ

सुरेश—बन्धु, सुधाका पति

अशोक—बन्धु

दिवाकर—कवि

बालक, माली, बेयरा

[बँगलेके सामने बगीचेके एक भागमें, शान्ता और माली ।]

माली—"पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँजी । मगर ऊ—"

शान्ता—[जिसके स्वरमें अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है] "रहने दो, माली, ऐसे बहाने मत बनाओ । तुम्हें आदत है सब चीज दैवपर छोड़नेकी—"दैव नहीं बरसेगा तो बीज नहीं जमेगा।" ऐसे भी देश होते हैं जहाँ दैव कभी बरसता ही नहीं—वहाँ—वहाँ क्या पौधे ही नहीं होते ?"

माली—[मानो अपने बचावमें] "माँजी—"

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाज़ें · मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा—वह रही, बगीचेमें । शान्ता !"

सुरेश—"नमस्कार, शान्ता भाभी । बागवानी हो रही है ?"

शान्ता—"अरे सुधा—सुरेश भैया ! आइए । [सकपकाती-सी !] मेरे हाथ मट्टीके हो रहे हैं—माली, दौड़कर जरा देवीसरनसे कुर्सियाँ डाल देनेको कहो तो—"

मालती—"जी हाँ, मेरे तरफ़ तो देखेगी क्यों श्रीमती शान्ता देवी—उर्फ़ कविप्रिया—"

शान्ता—"ओहो मालती। जरा सामने तो आओ, मैंने तो देखा ही नहीं—"

मालती—"जी यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगी। मैं न कवि, न बुलबुल, न गुलाबका फूल—"

शान्ता—[हैरान-सी] "आखिर मामला क्या है ?"

सुधा—[धीरेसे] "न सही गुलाबका फूल, मालतीका सही !"

मालती—[डपटकर] "चुप रहो जी ! [शान्तासे] अच्छा कविप्रिया देवीजी, पहले तो मिठाई खिलाइए—

सुरेश—"नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी। आपको भी कवि होना चाहिए था—

मालती—"मुझे खाहमखाह। कवि तो जो है सो हुई है—पूछो न उनकी देवीजीसे !"

शान्ता—"यह पहेली क्या है आखिर ? मालती तुम्हीं बताओ क्या बात है—लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ !"

मालती—"अब तुम बनो मत, शान्ता। कल तुम्हारे कविजी सम्मेलनमें सभापति रहे, उनके कविता-पाठकी सारे शहरमें धूम है—तुमने तो हमें कभी बताया ही नहीं कि वह कविता लिखते भी हैं ?"

सुरेश—"अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेमगीत अकेले तुम्हींको सुनाते होंगे और छिपाकर रख लेते होंगे ?"

सुधा—"और शान्ताजी तो भला किसीको बताने क्यों लगीं अपनी सूझकी दौलत।

मालती—"तभी तो आज हम दल बाँधकर तुम्हें देखने आये हैं।"

शान्ता—[कुछ हँसकर] "तो मुझे क्यों देखने आईं ? मैं तो वहीकी वही शान्ता हूँ अनपढ, बेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नहीं

गई। और वह तो इस समय यहाँ है नहीं, न जाने कब आयेंगे। खैर, तुम लोग बैठो, वह जब भी आवे—"

मालती—"नहीं देवीजी, यों नहीं। हम आप ही को देखने आये है, आपके दर्शन करने, आपसे कविता सुनने—"

शान्ता—[मानो अवाक्] "मुझसे कविता ?"

मालती—"जी हाँ। आपकी कविता और आपके उनकी कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे 'वह' जी आपको अकेलेमें सुनाते होंगे !"

सुधा—"जी हाँ, वैसे ही।"

शान्ता—"तुम लोग सब पागल हो गई हो क्या ?"

मालती—"यह लो। अभी अपनेको अनपढ बता रही थी, अब हमें पागल बता रही है।"

शान्ता—"मैंने कहा तो, वह घर नहीं हैं, आवेंगे तो कविता सुन लेना !"

सुधा—"आप तो घरपर है न, यह पहले बताइये।"

शान्ता—"मै घरपर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी—उनके साथ सम्मेलनोंमें घूमूँगी ? मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, मै यहीं ठीक हूँ घर में।"

सुधा—"तो तुम कभी कहीं जाती—"

शान्ता—"न, मुझे क्या करना है बाहर ? यहीं बगीचीमे टहल लेती हूँ—मुझे बगीचीमें काम करना अच्छा लगता है।"

सुधा—"बुरी बात है शान्ता ! तुम एकदम बाहर ही नहीं निकलतीं—"

मालती—"हाँ यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाय रवि वहाँ पहुँचे कवि। और कविकी स्त्री घरसे बाहर न निकले ? कविप्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नहीं सोचा था !

शान्ता—"अब बस भी करो, ! बन्दिनी काहेकी ? वह कवि है, वह बाहर जावेंगे, मुझे घरमें कम काम है ?"

मालती—"ओह मैं समझी। [सुधासे] बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेंगे तो उनकी काव्य-धारा फूटेगी कैसे ? प्रिया हर वक्त पास रहेगी तो कविका चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायगा ! और हम ससारियोंकी तरह प्रियाको साथ लेकर घूमे फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उसकी कविताका स्रोत ही सूख जायगा। प्रियाको निर्वासन देकर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उसका जीवन बलि देकर ही काव्य-साधना कर सकता है।"

शान्ता—"तुम रखो अपना पाण्डित्य। मैं यह सब कुछ नहीं जानती।"

सुधा—"अच्छा ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर बाबू—कविजी आवेंगे कब ? हम उन्हींसे उनकी कविता सुन लेंगे।"

शान्ता—"सो मैं क्या जानूँ ? एक बार घरसे निकले तो कब लौटेंगे यह भगवान् भी नहीं बता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि ? सो रवि सुबहका निकला साँझको घर लौटता ही है, पर कविका क्या ठिकाना।"

मालती—"तुम रूठती नहीं ?"

शान्ता—"क्यों ? उन्हें कुछ काम रहता होगा—"

मालती—"और तुम्हें कोई काम हो, कहीं जाना हो तो ?"

सुधा—"चाय पीकर गये हैं ?"

शान्ता—[कुछ रुककर] "नहीं, चाय पीकर तो नहीं गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आयेंगे तभी चाय हो जायगी। मुझे तो कहीं जाने-आनेका काम होता ही नहीं—यहीं बगीचेमें काम कर लेती हूँ, रूठनेकी बात ही क्या है।"

सुधा—"और रातको आये तो ?"

शान्ता—"तो रातको चाय होगी—भोजन देरसे हो जायगा।"

सुधा—"भई वाह ! मानो बच्चा हो—जो मिल जाय उसीमें खुश।"

मालती—"लेकिन मुझे तो भई बहुत गुस्सा आता। मै तो कभी बात भी न करती।"

शान्ता—"[कुछ गम्भीर होकर] "हॉ भई, तुम्हे शायद गुस्सा आता या न आता तो कमसे कम दिखाती जरूर। [लम्बी सॉसके साथ] लेकिन यहॉ यह सब नही चलता। मै गुस्सा करूँ तो वह दुगुना गुस्सा करेगे। रूठा वहॉ जाता है जहॉ कोई मनानेवाला हो—जैसे मॉके साथ. मॉके साथ मैं भी वहुत रूठा करती थी. [सहसा खिलखिलाकर] दीवारके साथ और कविके साथ भी भला रूठा जाता है ?"

सुधा—"अच्छा, तुम कभी रोती नहीं ? जरूर रोती होगी।"

शान्ता—[थोडी देर बाद] "रोती तो हूँ शायद। लेकिन तुम लोगाकी तरह शायद नही। कोई मेरे ऑसू पोछकर मुझे मनावेगा, यह सोच-कर नहीं। कभी रातमें ॲधेरेमे रो लेती हूँगी—अन्धकारको परचानेके लिए .[गला भारी हो आता है।]

[बालकका प्रवेश]

बालक—"मॉ, मॉ" मै जरा साइकल चला लूँ ?"

शान्ता—[सुस्थ होकर] "नही बेटा, अब रातमे—"

बालक—"हॉ, मॉ, यहीं थोडी दूर ही रहूँगा—बेयराको साथ ले जाऊँगा—"

शान्ता—"अच्छा जा। पर दूर मत जाना।"

बालक—"अहा हा—जायेगे—जायेगे।"

[बालक उछलता हुआ जाता है।]

शान्ता—[मानो स्वगत] "यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठता है, मै मना लेती हूँ।"

सुरेश—"बड़ा अच्छा लड़का है। शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही बहलाये रखता होगा।"

शान्ता—"हां, सो तो है ही।"

सुधा—"और जो तङ्ग करता होगा सो ?"

शान्ता—"तङ्ग तो बच्चे करते ही है, पर उससे कोई तङ्ग होता थोड़े ही है। मै तो सोचती हू, मुन्नेके कारण मुझे दुनियाके हिसाब-किताब से छुट्टी मिली—क्या पाया क्या नही पाया इसका लेखा-जोखा रखनेकी जरूरत नही अब मुझे। मै समझती हूँ कि जीवन जो देता है मैने पा लिया.."

मालती—"कैसा हिसाब-किताब ?"

शान्ता—"हिसाब-किताब नही तो और क्या! कहनेको तो यह सब भावना-आकाक्षा, मन और अध्यात्मकी बाते है, लेकिन असलमे तो हिसाब-किताब ही है न। कितना रग, कितना उजाला, कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार—कितना आराम, कितना परिश्रम जीवनमे मिला. जो लोग रोमासके पखो पर उड़ते है, वे भी इस हिसाब-किताबको भूलते नही। और इस जोड़-बाकीमे अगर मुनाफा देखे तो खुश होते है, घाटा देखे तो जीवनके प्रति असन्तोष उन्हे होता है। सुधा, तुम क्या सोचती हो मै नही जानती, पर मै तो भावनाके हिडोले नही झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योकि मै प्रिया नही, माता हूँ। [स्वर क्रमश भावाविष्ट होता जाता है।] मै स्नेह और आदरकी अपेक्षामे रहनेवाली नहीं, स्नेह देनेवाली हूँ। मै सुबहसे शाम तक जो कुछ करनेका है करती जाती हू—जागती हूँ, उठती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ,

सुनती हूँ—और मैं किसी चीजका, किसी बातका प्रतिवाद नही करती। प्रतिवाद कोई किसका करे—जीवन कोई बुझौवल थोड़े ही है, वह सबसे पहले अनुभव है।"

सुरेश—[मानो अधिक गम्भीर बातको हँसीमें टालनेका यत्न करता हुआ] "जीवन बुझौवल है कि नहीं, यह तो अलग बात है, पर भाभी, तुम जरूर हो।"

शान्ता—[उसी प्रकार आविष्ट] "हूँगी। जरूर हूँगी—इसीलिए कि मुझमें बुझौवल कही नहीं है—मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गई हूँ। 'दो' पहेली है जिसका सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'—'एक' भी पहेली है इसलिए कि उसका आगे सुलझाव नहीं है, वह निरी इकाई है—होने और न होनेकी सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहने का मतलब है उसे मिटा ही देना।"

सुरेश—[प्रयास-पूर्वक विषयको बदल देनेके लिए] "शान्ता भाभी, सामनेका बगीचा तो देखा, पीछे भी कुछ बना है ?"

शान्ता—[सँभलकर, बदले हुए स्वरमें] अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरेमें दीखेगा क्या ? [ज़ोर से] माली।"

माली—"हाँ, माँजी ? का हुकुम है माँजी ?"

शान्ता—"उधर क्यारीमे पानी लगा दिया है ?"

माली—"हाँ माँजी—"

शान्ता—"देखोगे तुम लोग ? चलो।"

[उधर जाते हुए स्वर]

सुधा—"उधर चबूतरेके आस-पास तो बेला फूला होगा ?"

सुरेश—"अहा, यह करौंदेकी झाडी तो बडी सुन्दर है। यहीं बैठकर कविजी कविता लिखते होंगे न ?"

शान्ता—"सो मैं क्या जानूँ कि वह कहाँ बैठकर लिखते हैं ? लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरेपर।"

सुधा—"तभी तो मैंने तुमसे पूछा था कि तुम घरपर रहती हो न ?"

मालती—"फिर तुमने शुरू की वही बात ? कविकी प्रिया घर नहीं रहती। घरपर रहे तो वह प्रिया नहीं है। आजतक कभी सुना है कि किसी कविने प्रियाको सामने बिठाकर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेमका चित्र मन में लिये उस चित्रसे जीवनका मिलान करते हुए चलता है—और जीवनको घटिया पाता है। उसकी एक कल्पनाकी प्रिया होती है जिसे वह सारी दुनियामें ढूँढता फिरता है और कभी पाता नहीं। जीवनमें जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उसके कल्पनालोक की देवी थोड़े ही है। वह देवी जो सोच सकती है—यानी कविकी कल्पनामें—वह कोई पार्थिव प्रिया नहीं सोचती, जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड-मासकी प्रिया क्या कर पायेगी। तभी तो कवि लोग ऐसे तोता-चश्म होते हैं—अगर उन्हें कल्पनाके प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तवसे तो मन फेरना ही होगा, क्योंकि वास्तव तो जिस चीजको वह छूते हैं वही पाते हैं कि निरी मिट्टी है, और मिट्टीको ही प्यार करें तो फिर कल्पना बिचारी क्या हो ? किसी भी बड़े कविका जीवन ले लो, उसकी सारी जिन्दगी एक खोज है जिसका नतीजा केवल इतना है कि 'नहीं। यह नहीं। यह भी नहीं। यह भी नहीं।' इसी कभी न मिटनेवाली खोजको, कभी न बुझनेवाली प्यासको, कोई कूँचीसे आँकता है, कोई कलमसे लिखता है, कोई छन्दोंमें बाँधता है, और लोग देख-सुनकर कहते हैं 'कितना सुन्दर! कितना मार्मिक! कैसा दिव्य प्रेम!' कविको जीवनमें आनन्द नहीं

मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कविकी स्त्री–मृत्युके पार अमर होनेकी बात तो दूर, वह तो जीवनमें भी—"

सुधा—"भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया। अब तो तुम्हें किसी मीटिंगमें ले जाकर मचपर खडा कर देना चाहिए। ऐसी फूल-झडी-सी लगा दी तुमने तो—"

मालती—"तुम्हें तो हरवक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्तासे, वह भी तो हमारी तुम्हारी उम्रकी है, कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकोंकी-सी बाते करे? "शान्त, स्थिर—होने और न होनेकी सीमा-रेखा! हुँः! मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियोंपर कि—"

सुरेश—"सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिये, चाहे तो इस करौंदेकी छाँहमें बैठकर कविता कीजिये। [सुधासे] क्यो जी, अब चलना चाहिए न?"

सुधा—"हाँ, बडी देर हुई। अच्छा शान्ता बहन, फिर आयेंगे कभी—कविजीसे कह देना, कविता जरूर सुनेंगे।

सुरेश—"नमस्ते, भाभी।"

शान्ता—"हाँ जरूर आना, बहन। वह होंगे तो जरूर सुनायेंगे ही तुम लोगोंको। नमस्ते, सुरेश भैया—"

मालती—"मैं भी तो चल रही हूँ भई—कि मुझे छोड़े जा रहे हो?"

सुधा—[हँसती हुई] "हमने सोचा शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो।"

मालती—"अच्छा शान्ता, मेरी किसी बातका गुस्सा मत करना—"

शान्ता—"वाह गुस्सा कैसा। फिर आना।"

मालती—"हाँ। नमस्ते।"

[जाते हैं]

शान्ता—[स्वगत] "अब ? [धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो।

पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।

बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।

सखी मेरी नींद नसानी हो—

पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।

रैन बिहानी हो...।"

शान्ता—[सहसा चुप होकर] आ गये! [जोरसे] "बैरा ! चाय तैयार करो ! अरे नहीं—[चौंककर और फिर सुस्थ होकर] ओह, अशोक !"

अशोक—"पहचानती भी नहीं, दीदी ?"

शान्ता—"मैं समझी थी—"

अशोक—"क्या समझी थीं ?"

शान्ता—"कुछ नहीं। आओ, बैठो।"

अशोक—[बैठता है] "शान्ता दीदी, अँधेरेमें बैठी क्या कर रही थीं ?"

शान्ता—"कुछ नहीं, आकाश देख रही थी। मुझे साँझके बाद आकाश देखना बहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सब कुछपर छा जाता है. .इस जीवनके, इस लोकके सब आकार मिट जाते है एक मौन निःस्तब्धतामें, और फिर दूर—कितनी दूर !—उदय हो आते हैं कितने नये लोक और उनके अपने नये आकार। लोग सूर्यास्तके रंगोंको सुन्दर बताते है, लेकिन उससे भी सुन्दर होता है सूर्यास्तकी भी लालिमाका मिटना—"

अशोक—"रोज देखते-देखते ऊबती नहीं, एक ही दृश्य ?"

शान्ता—"ऊबना कैसा ? यह मिटनेका खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इनसान विभोर होकर अपनेको निरे जीवनपर छोड देता है—हम अपनेको जीवनपर छोड दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते है, उसका हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है।"

अशोक—"दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थी न ? मै सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठकर गाना सुनूँगा।"

बेयरा—"चाय तैयार है, सा'ब।"

शान्ता—"लो, पहले चाय पियो।"

अशोक—"दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चायका समय है भला ? और मै कोई अजनबी तो हूँ नहीं जो खातिर करे—"

शान्ता—"तुम्हीं थोडे ही पियोगे ? मै भी तो लूँगी—"

अशोक—"उससे क्या ? रातके तो नौ बजे है। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यो मँगाई ?"

शान्ता—"आपके लिए क्यों ? चायका आर्डर तो मैं आपके आनेसे पहले दे चुकी थी।"

अशोक—"ओह, तो आप लीजिये। मै तब तक आपका आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूँगा नही।"

शान्ता—"नहीं, मै तो चाय केवल साथके लिए पी लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नही रही।"

अशोक—"यह अच्छी रही। आपने चाय मँगाई भी थी, और अब ले भी नहीं रही।"

शान्ता—"मैने अपने लिए नही मँगाई थी।"

[बेयरा आता है]

अशोक—"तब ?"

बेयरा—"जी सा'ब— '

शान्ता—"चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? माटकल अन्दर रख दिया है ?"

बेयरा—"जी। बाबा सोने जाते हैं।"

[ट्रे समेट ले जाता है।]

अशोक—' शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थीं, वही गाइये।"

शान्ता—"मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—"

अशोक—"जो हो—"

[शान्ता बाहरकी ओर जाती है, आकाशकी ओर देखती है। उसका स्वर दूरसे आता है।]

शान्ता—"अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते-देखते कभी गुन-गुनाया करती हूँ—[धीरे-धीरे गाती है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
रैन बिहानी हो ."

[गाते-गाते शान्ताका गला भारी हो आता है—फिर आवाज सहसा टूट जाती है। एक बार गला साफ़ करने का शब्द, फिर एक कड़ी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है।]

अशोक—[सहसा चिन्तित] "क्या बात है, शान्ता दी—"

[बहुत हल्की-सी सिसकीका शब्द]

अशोक—[धीमे, कोमल स्वर से] "शान्ता दी—"

[क्षण भर मौन]

[बाहर से निकट आता ताँगे का शब्द और घण्टी]

अशोक—[शान्ताको थोड़ी देर अकेली छोड़ देना उचित समझकर बहाना बनाता हुआ-सा] "शान्ता दी, मैं जरा मुन्नेको देख आऊँ, नहीं तो अभी सो जायगा। अभी आया।"

[बाहर दूरीपर ही कविका शब्द, क्रमशः निकट आता हुआ]

कवि—"ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, जरा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता—[सँभलकर] "जी।"

[भीतर जाती है]

[भीतरसे बालककी हँसीका शब्द]

बालक—[भीतर से] "बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइये—"

अशोक—"तुम बोलते क्यों नहीं ?"

कवि—"अरे कौन, अशोक ? [ज़ोर से] अशोक।"

अशोक—[भीतरसे] "आ गये आप ?"

कवि—"अरे यहीं आओ यार, दो मिनट गप्प ही करें, अभी तो चला जाऊँगा।"

अशोक—[निकट, विस्मित स्वर में] "कहाँ ?"

कवि—"यहीं जरा बैठो। चाय पियोगे ?"

अशोक—"नहीं, इस समय नहीं।"

[भीतरसे शान्ताके गुनगुनानेका स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पष्ट हो जाता है]

शान्ता—[गाती है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पियाको पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो ।
ज्यों चातक घनको रटै, मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल बिरहिनी, सुध-बुध बिसरानी हो ॥"

कवि—[अर्ध स्वगत] "फिर वही गाना ।"

अशोक—"क्यों, आपको गाना अच्छा नहीं लगता ?"

कवि—"नहीं, गाना क्यों न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है" [सहसा चुप हो जाता है ।]

[शान्ताका स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है ।]

"सखी मेरी नींद नसानी हो ।
पियाको पन्थ निहरते सब रैन—"

[गान सहसा बन्द हो जाता है।]

शान्ता—"लीजिए, चाय !"

नगा पर्वतकी एक घटना

ॐ

"मेरी समझमे तो समस्या इससे अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूपमे देख रहे है, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुनने समर्थनके लिए कप्तान वासुदेवन्की ओर देखा।

"हॉ, फौजी जीवन आदमीको इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फायरका हुक्म मिलते ही वह गोली दाग देता है, उचित-अनुचित कुछ नहीं सोचता, यह तो कोई इतनी बडी बुराई नहीं है। क्योंकि ऐसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही हैं, और जो चाहा जाय उसका हो जाना क्यों बुरा ?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है ?" कप्तान चोपडा बोले। क्या आदमी को ड्रिल कर-करके ऐसा यन्त्र बना देना, कि उसकी मारल जजमेंट बिल्कुल बेहोश हो जाय, बडा पाप नही है ? यही तो फौजी जीवन करता है ?"

"इससे किसे इनकार है ? अपनी जजमेंटको दूसरोकी जजमेंटके अधीन कर सकना सिपाहीगिरीके लिए जरूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ फौजमें ही तो नहीं होता, यह तो हमें हर क्षेत्रमे करना पडता है।" वासुदेवन्ने उत्तर दिया।

"और फिर यह वैसे भी किसी पेशेका दोष नही, यह तो मानवका ही दोष है कि वह ऐसा करना चाहता है। मानवकी मारल जजमेंटकी हम चाहे जितनी दुहाई दे, असलमे वह इतने गहरेमें मारल नहीं है कि उस जजमेंटको दूसरोपर छोडनेमे खुश न हो उसके लिए यह जजमेंटका मामला एक गले पडी आफत है, जिसे वह जितनी जल्दी दूसरेके गले डाल सके उतना ही अच्छा। इसीलिए मै कहता हूँ कि आप समस्याको

आसान करके देख रहे हैं। फौजका पेशा मानवमें कोई नया ऐब पैदा नहीं कर देता, उसमें जो सहज दुर्बलता है उससे लाभ उठाकर चलता है। यह बल्कि ज्यादा बड़ी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छः हजार बरसकी संस्कृतिसे—वासुदेवन्, छः हजार बरस ठीक है न ?—पैदा हुआ नैतिक बोध छः महीनेकी फौजी ड्रिलसे ऐसा पस्त हो जाय कि हम बिना सोचे समझे चाहे जिसकी जान ले डालें ?"

"नहीं, बोध बिल्कुल तो नहीं मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फौज गोली चलानेसे इनकार कर देती, है, जैसे सिविलियनोंपर, या औरतोंपर—आखिर यह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इसलिए कि डिसिप्लिनमें ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षामें दुश्मनकी बात सामने लाई जाती है, और आम-तौरपर 'दुश्मन' का अर्थ फौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नहीं है, या कि उसे नरमीसे जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

"यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंगमें यह भी होता कि दुश्मन दुश्मन ही नहीं, दुश्मनके सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उनको भी मारनेमें फौजीको झिझक न होती ?

"बिल्कुल, और इस सभ्य लड़ाईमें इसकी मिसालें भी कम नहीं हैं। जर्मनीके कंसंट्रेशन कैम्पोंमें—"

"तो क्या नैतिक जजमेंट बिल्कुल मर जाता है ? मगर—"

"मरता है, या बेहोश भी होता है कि नहीं, पता नहीं। कहें कि स्थगित हो जाता है या दूसरे पर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव-मात्रका सहज स्वभाव है, फौजका उसमें कोई हाथ नहीं।"

"मेजर वर्धन, आपकी क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजरसे प्रश्न पूछा गया था, उत्तरके लिए रुके रहे। मेजर वर्धनने सहसा उत्तर नहीं दिया, अन्य

अफसरोंने देखा कि वह चुपचाप आगेको झुके हुए आगकी ओर स्थिर दृष्टिसे देख रहे है। आगकी लपटें जैसे-जैसे उठती-गिरती थीं, वैसे वैसे उनके चेहरेपर एक अजीब धूप-छाँह खेल उठती थी, उनके चेहरेपर एक क्लान्ति,एक उदासीनताका भाव तो था, पर उसके पीछे जैसे कहीं एक धीर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नहीं मानती, जैसे निर्धन माँ, पूस-माघकी सर्दीमे अपने सर्वथा अपर्याप्त फटे आँचलको बच्चेपर उढाकर, आँचलके सहारे उतना नहीं जितना अपनी लगनके सहारे उसे ठिठुरनेसे बचा लेना चाहती हो..

फौजसे छुट्टी पाकर ये परिचित अफसर कभी-कभी एक्स-सोल्जर्स क्लबके छोटे कमरे मे आ बैठते थे। तीनो कप्तानोंने अपनेको सिविलियन जीवनमे भी कप्तान कहनेके अधिकारका उपयोग किया था, मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ्ती' 'पोशाकमे 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे पर अभ्यासवश बाकी उन्हे मेजर कह ही जाते थे

सहसा सन्नाटेमे जैसे चौंककर वह बोले—"मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। अमलमे हम लोग युद्धकी ओर ही ध्यान दें, तो ज्यादा अच्छा है, फौजी जीवनके दोष देखनेसे हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या एक दूसरेमे निहित नहीं है? फौजी जीवन और युद्धको अलग कैसे किया जाय--युद्धके लिए ही तो फौजी जीवन है?"

"हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेलेमे पडना है। यह ठीक है कि साधनकी भी परख होनी चाहिए, अच्छे साध्यके लिए लग कर भी बुरा साधन बुरा है। मगर अमलमे तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी आप नहीं मानते कि फौजी जीवन आदमीको नीचे खींचता है?"

"हाँ—और नहीं। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यह ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छासे यह

परिणाम चाहते हैं, जैसा कि वासुदेवनने कहा। दूसरे, सधा हुआ पशु मानवसे ऐसा बुरा ही है, यह दावा करना दम्भ नहीं है?"

तीनोंने कुछ चौंकी हुई दृष्टिसे मेजरकी ओर देखा, मानो कहना चाहते हों, "आपसे ऐसी बातकी आशा नहीं थी।"

मेजर बर्धनने कहा: "आप सोचते होंगे कि मैं सिनिकल हो रहा हूँ। नहीं। सचमुच सधे पशुके लिए मेरे मनमें सम्मान है और यह भी मैं मानता हूँ कि वह उतना अधिक बुरा नहीं हो सकता जितना कि युद्धकी परिस्थितियोंमें मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला खूँख़ार प्राणी नहीं, सीधा-सादा, भाइ बहिन, जोरू-बच्चोंके बीच रहने वाला, दससे छः तक दफ्तरमें—या छःसे दस तक खेतमें—खटने वाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फौजी आम तौरपर होते हैं। इसीलिए जहाँ आदमी पशु बन जाता है, वहाँ मैं उसे उतना खतरनाक नहीं मानता। फ़ौजकी डिसिप्लिन केवल इतना करती है, इससे बदतर कुछ नहीं। लेकिन युद्ध ..."

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फौजी जीवन नहीं करता। मगर युद्धमें आदमीके गुण भी तो उभरते हैं..." चोपडाने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और यह भी होता है कि जिनके गुण उभरते हैं वे आगे जाकर मर जाते हैं, और जिनके ऐब उभरते हैं वे जान बचाकर घर लौटते हैं। 'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्' आज भी उतना ही सच है, मगर 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—न मालूम! बल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नहीं सकता।"

"लेकिन आप यह क्यों कहते हैं कि मनुष्य पशुसे बदतर हो जाता है?"

"यों तो 'मनुष्य जब पशु होता है तब पशुसे बदतर होता है' . यह आपने सुना ही है। क्योंकि पशु पशु होकर अपने पदपर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आपको इसपर आपत्ति क्यों है? यह बताइए कि जब आप कहते हैं कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तब आपका अभिप्राय क्या होता है?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे बोले—"यही कि वह अपना विवेक छोड़ कर सिर्फ अनुशासनपर चलता है हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा, 'आगमें कूदो' तो आगमें कूद पड़ेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डरसे, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पड़ेगा।"

"और अनुशासनसे डरको दबानेके कारण ही फौजमें इतने मेंटल केस होते हैं—" चोपड़ाने दाद दी।

"हाँ। ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेकके ऊपर दूसरेकी इच्छा या विवेकको मानकर उसके अनुसार चलता है। यानी मानवका जो अपने विवेकको अमलमें लानेका कर्तव्य है, उसे वह—चलिये, ताकमें रख देता है कुछ कालके लिए। यह फौजी अनु-शासनकी देन है। पर अगर वह पशु अनुशासनके नामपर अपने नैतिक बोधको, सदसद्विवेकको ताकमें रख दे, और फिर सहज पशुप्रवृत्तिकी झोंक में अनुशासनको भी भुला दे तब? तब तो वह पशुसे बदतर है न?"

वासुदेवन्‌ने तनिक मुसकराकर कहा "पशु-प्रवृत्तिमें बहनेवाला तो पशु ही हुआ, पशुसे बदतर कैसे कहेंगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नहीं है, और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशुसे बुरा है। और युद्ध फौजके शिक्षित पशुको अशिक्षित बना देता है।"

वासुदेवन्‌ने बातको हल्का करनेके लिए कहा, "बर्न्सने कालेजकी शिक्षाकी बुराई तो की है पर फौजी शिक्षाकी ओर उसका ध्यान नहीं गया!"

चोपड़ाने दिलचस्पीसे पूछा, "क्या प्रसंग है यह ?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख[१] कालेजोंमें अपना दिमाग खराब करते हैं—दाखिल होते हैं बछेड़े लेकिन निकलते हैं पूरे गधे—"

"हाँ!" कहकर चोपड़ाने ठहाका लगाया।

"मगर एक बात है, बर्न्सने पशुको और घटिया पशु बनाया, मनुष्यको पशु नहीं।"

"हाँ, क्योंकि वह कालेजकी पढ़ाईकी बात थी—उसमें इससे ज्यादा ताकत नहीं है। मगर जंग—" मेजर वर्धनने फिर वातावरण गम्भीर कर दिया। फिर मानो उन्हें स्वयं ध्यान आया कि क्लबके सामाजिक वातावरणको हल्का ही रहना चाहिए, और वह सहसा चुप हो गये।

कप्तान चोपड़ा थोड़ी देर उन्हें देखते रहे, मानो सोच रहे हों कि उस मौनको तोड़ना उचित है या नहीं। फिर उन्होंने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आपकी बातसे मैं पूरी तरह कनविंस तो नहीं हुआ, मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटनाके परिणामसे ऐसा कह रहे हैं। और घटनाओंका तर्क भी एक अलग तर्क है ही।"

कप्तान अर्जुन भी बढ़ावा देते हुए बोले, "और अपने ढंगका अकाट्य तर्क। सुनाइये, हम सब सुन रहे हैं।"

मेजर वर्धनने एक बार तीनोंकी ओर देखा, फिर एक स्थिर दृष्टिसे आगकी ओर देखकर बोले, "हाँ घटनाका अपना अलग तर्क होता है। जो घटना अभी मेरे ध्यानमें आई थी, वह मेरी बातकी पुष्टि करती है या नहीं, न जाने; मगर उसको समझा जा सकता है तो उसीके भीतरी तर्कके

[१] A set of dull conceited hashes
Confuse their brains in college classes,
They gang in stirks and come out asses
—Robert Burns

आधार पर, नहीं तो इन्सान ऐसा अनरीजनेबल कैसे हो सकता है समझ नहीं आता। आखिर पशु- द्धि भी तो बुद्धि है—"

थोडी देर सन्नाटा रहा। चारो आगकी ओर देखते रहे। मेजर वर्धनके चेहरेकी रेखाएँ कडी हो आईं, मानो उनकी स्थिर दृष्टि आगमे कुछ देख रही हो और निश्चलताके जोरसे उसे पकडे रहना चाहती हो.. फिर उनकी मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पडी, मानो बात कहने का ही निश्चय करके उन्हें कुछ तसल्ली मिली हो।

"बात कोहीमाकी है। यानी ठीक कोहीमाकी नहीं, कोहीमा और जसामीके बीचके इलाकेकी डि-चिड्के पार जो खुमनुबाटोका शिखर और जगल है, वहीं की। मै कोहीमाकी इसलिए कहता हूँ कि मैं तब ३३ डिवि-जनके साथ कोहीमा और जुबजाके बीच डिब हेडक्वाटरमे पडा हुआ था।" वह क्षण भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे ये—और अर्जुन तो डीमापुरमे रहे—यह तो तुम्हें मालूम है कि मैं डीमापुरसे इंटलिजेंसके लिए आगे गया था—"

"हॉ, वह तो ऐस गुपचुप कुछ काम था कि हम सबको बडा कौतूहल रहा। फिर हमने सोच लिया कि कोहीमाके पार जापानी लाइनके पीछे जासूसी करने जा रहे है। यह तो हमे मालूम था कि नगा स्काउटोकी एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उसके कुछ जवान आपके साथ जावेंगे—"

"हॉ, था तो गुपचुप ही। बल्कि जो बात बताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दर्जे की है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फौज का सीक्रेट रहा होता तो मै शायद अब भी उसकी बात न करता—पता नहीं अब भी वह कहानी कहना फौजी कानूनके खिलाफ है कि नहीं। पर जो हो, सुनकर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कही जाय या नहीं।

मुझे तो यह बात अचानक ही एक अमरीकन कर्नलसे पता लगी—हालाँकि थी शुरूमें वह मेरी ही बात।"

"आप हमें भटकानेके लिए पहेलियाँ बुझा रहे हैं?"

"नहीं। तुम्हें मालूम नहीं, उन दिनों जापानियोंके साथ बहुतसे आजाद हिन्दी भी शामिल हो गये थे; इससे अँग्रेजोंके मनमें बड़ा डर बैठा हुआ था। भेद-भाव तो यों भी था, पर इस डरसे इंटलिजेंसके बहुतसे काम सिर्फ अँग्रेजों-अमरीकनोंको सौंपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उनके लिए ज्यादा उपयुक्त हों। मैं भी जो नगा जासूसोंके साथ गया-तो मेरे साथ एक अमरीकी कर्नल भी था, अमरीकी इंटेलिजेंसका, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाकेमें, जिधर सिर्फ जापानी थे—कोहीमासे उत्तर तेहेंमत्सेमिन्यू वाले इलाकेमें। दक्षिणमें जहाँ यह ख्याल था कि जापानियोंके साथ हिन्दी भी हैं वहाँ किसी हिन्दुस्तानीको नहीं भेजा गया—उधर सब ब्रिटिश अफसर थे।"

"हाँ।"

"तो इस इलाकेमें भटकते हुए मुझे एक बात सूझी। उधरका जंगल ऐसा दुर्गम था और अंगामी नगा जातियोंके इलाकेमें ऐसी खेती-पट्टी कुछ होती नहीं कि जापानी लोग लूट-खसोट कर खाते रहें और टिके रहें। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट-पाटकर खाते रहेंगे फिर डिमापुरपर कब्जा हो जायगा तो वहाँ ढेरों रसद जमा होगी ही—हम आखिरी वक्त तक उसे बचानेका लोभ जरूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाड़ियोंमें नगे तो कन्द-मूल और बूटियाँ खाकर रह भी लें, जापानी तो ये सब बातें जानेगा नहीं, जब नगा गाँवोंका थोड़ा-बहुत चावल और बकरी कुत्ते खा चुकेगा तब भूखे पेट बड़ी जल्दी डिमार-लाइज होगा। और वैसे अर्ध-बर्बरका हौसला जब गिरता है तो धीरे-धीरे फिसलता नहीं, एक दम नीचे आता है। ऐसेमें अगर उसमें यह

प्रचार किया जाय कि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उसकी जान भी बचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—"

"हाँ, विकट लडका था जापानी। पकडा नहीं जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैंने एक बार पाँच छः कैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैंने कभी नहीं देखा होगा। उनकी आँख नहीं उठती थी। उन्हे कैदका दुख नहीं था, यह था कि वह आत्मघात न कर सके, पहले पकड़े गये। मगर यह भी बात थी कि उन्हे सिखाया जाता था कि पकडे न जायँ, नहीं तो बडी दुर्गत होगी और यह बात उनकी समझमे भी आ जाती थी, क्योकि वे खुद कैदियोकी बडी दुर्दशा करते थे—कमसे कम कई बार तो जरूर। जो हो, मुझे यह सूझा कि यहाँ खाइयोंमे जो दो सौ तीन सौ जापानी कीचड, मच्छर, जोंकोंमे पडे सड रहे हैं, तिसपर खानेको चावल-मास कुछ नहीं और पीनेको गँदला पानी जो पियो और पेचिशसे मरो, और एक बडी बात यह कि दुश्मन कहीं दीखता नहीं—क्योंकि उस घने जगलमें वहाँ दिनमें भी अँधेरा-सा रहता था, दो सौ गज दूरपर दुश्मनकी खाइयाँ हो सकती थी, और चिल्लाये तो एक दूसरेकी आवाज सुन सकते थे। तो ऐसी हालतमे अगर लाउड-स्पीकरसे जापानियोंमे प्रोपगेंडा किया जाय तो शायद बहुत असर हो—हत्याकाड भी बचे। मुझे यह विचार ही उन जापानी कैदियोंको देखकर आया था, क्योकि उन्हींसे जापानी बुलवानेकी बात सूझी थी।"

"मगर कैदी क्या कभी राजी होते ?"

"यह तो कोशिश करनेकी बात थी। बादमे हुए भी। मैंने उस अमरीकी कर्नलको अपनी योजना बताई तो उसने भी कहा कि कोशिश करके देखना चाहिए—उसने यह भी कहा कि उसके साथ दो अमरीकी सार्जेंट है जो वैसे तो जापानी है मगर अमरीकी नागरिक हैं और अमरीकी फौजमे है, ये लोग खुद भी ब्राडकास्ट कर सकेंगे और करा भी सकेंगे—

और ऐसी तो कई जगहें होंगी जहाँ सामने-सामने खाइयाँ हों। उसके प्रोत्साहनसे मैंने योजना बनाकर डीमापुरमें एरिया कमाण्डरके पास आगे जी. एच. क्यू. के लिए भेज दी। फिर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा कि आगे कुछ हो। हफ्ता हुआ, दो हफ्ते हुए, तीन हफ्ते हुए—महीना हो गया। मोर्चा सँभल गया, जापानी रुक गये, ३३ डिव हवाई जहाजसे जोरहाट पहुँचा और आगे बढ़ने लगा, सूने कोहीमापर दोनों ओरसे गोले बरसने लगे। कभी उनके जीरो आकर बम गिरा गये, कभी हमारे टैंक बढ़े तो कोहीमाके परले मोड़ तक बढ़ते गये, मगर मोड़में मुड़ते ही पारकी पहाड़ीसे ऐसे जोरकी गोला-बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीचमें कोहीमा कस्बेकी पहाड़ियोंपर न वे न हम, उधर परली पहाड़ीमें ऊपर नगा बस्तीमें जापानी, इधर जुब्जाके आगेकी जंगल-ढकी पहाड़ीपर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जी. एच. क्यू. वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल करनेका वक्त तो फिर निकल जायगा। अन्तमें मैंने जनरलको कहा कि याद दिलावें।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइण्डरका जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धनने तनिक रुककर साथियोंकी ओर देखा। चोपड़ाने कुछ अधैर्यसे कहा, "क्या?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्राच' को भेज दी गई है। वहाँ उसपर विचार हो जायगा, हमें आगे याद दिलाने या पूछनेकी जरूरत नहीं है।"

"यह खूब रही।"

"और दो हफ्ते हो गये। अन्तमें मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्यावहारिक नहीं समझी गई। मैंने भी उसे मनसे निकाल दिया। इस बीच उस अमरीकी कर्नलसे अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जाकर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशनपर

भेज दिया गया था, और मै ३३ डिवके साथ कर दिया गया था, एडवासके लिए इलाकेकी जानकारी उन्हे देनेके लिए। ३३ डिव पूरा गोरा डिव था—लडाके अच्छे मगर नगा पर्वतके भूगोल और नगा जातिके मामलेमे बिल्कुल सिफर। लेकिन डिवका हरावल जब कोहीमामे घुसा, और दो-तीन दिनमे मुर्दोंको हटाकर उस मटियामेट ढूहमे हमने किरमिचके बासे खडे कर लिये, तो हमने पाया कि इधर डीमापुरसे एक अमरीकी अस्पताली टोली आई और इधर ऊपरसे बीस-एक नगा आँकों को साथ लिये वही अमरीकी कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले तो डीमापुरसे रेलसे ही मरियानी चला गया था, वहाँसे मोकोक्चड्की ओरसे नगा पर्वतोंमें घुसा, पहले आव जातूसोके साथ, फिर अगामियोके, और उधरसे बढता हुआ लोड्सासे दक्खिनको उतरता हुआ चिपोकेटामीसे फाकेकेड्जुमीकी ओर जा रहा था, खुइ-वी तक गया भी था, लेकिन उसके आगेकी स्थिति स्पष्ट नहीं थी इसलिए लौट आया। अब अगर ३३ डिव कोहीमाके पूरब जसामीवाली सडकसे बढेगा तो बीचके इलाकेका महत्त्व भी नहीं, जापानी या तो पीछे हटेगा या बीचमे फँस जायगा, और अगामी फिर किसीको छोडनेके नहीं—एक तो यो ही वे परदेसीको घँसने नहीं देते, फिर जिसने उनके घर जलाये हों, खलिहान लूटे हो, औरतोंको बेइज्जत किया हो उनको तो वह भूनकर खा जायेंगे। बातचीतके सिल-सिलेमे मैंने अपनी योजनाकी बात छेडी, और कहा कि जी एच. क्यू. वाले भी अजीब है, जहाँ छः हफ्ते आइडिया ब्राच एक आइडियाको सेती रहती है। कर्नलने एक तीखी नजर मुझपर डालकर कहा, ओ, फर्गेट इट् बर्धन।' मैंने फिर कहा, 'खैर, आइडिया तो अब गया ही, पर आखिर जी० एच० क्यू० का सगठन क्या है? न ही अच्छा हो आइडिया, एकबार आजमाकर तो देखते? फिर मैंने खुद आगे जाकर प्रयोग करनेके लिए वालटियर किया था।' अबकी बार उसने और भी

निश्चयात्मक स्वरमें कहा, 'आः पाइप डाउन !' और मेरे जिद करनेपर बोला 'वह आइडिया सड़ा हुआ था—ट्रुट स्टैक !'

"मुझे अचम्भा हुआ कुछ धक्का भी लगा। मैंने कहा, 'कर्नल, जब मैंने पहले आपको बताया था तब तो आपको वह ऐसा सडा हुआ नहीं मालूम हुआ था—'

"अबकी बार उसने फिर मेरी ओर तीखी दृष्टिसे देखा, और पूछा, 'तुम्हें सचमुच नहीं मालूम कि उस आइडियाका क्या हुआ ?' मैंने और भी विस्मयसे कहा, 'नहीं तो—'

"तब वह बोला, 'आल राइट, आई टेल यू। वैसे जितना सीक्रेट वह तब था जब तुमने बताया था, उससे ज्यादा सीक्रेट अब हो गया है—क्योंकि—वह आजमाया जा चुका—'

"मैं सन्नाटेमें आ गया। कब ?'—और—असफल हुआ।'

"मैंने पूछा, 'आपको कैसे मालूम है ?' बोला, 'वही मेरा हश-हश मिशन था।' "

तीनों श्रोताओंने चौंककर कहा, "रीयेली, मेजर वर्धन ! ऐसी बात थी !"

"हाँ। मैं हक्का-बक्का एक मिनट उसकी ओर देखता रहा। फिर मैंने कहा, "मेरी कुछ समझमें नहीं आया, कर्नल। शुरूसे कहिये।"

"वह कहने लगा, 'हाँ, शुरूसे ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्हीं जानते हो; तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया जाँचवाले गुम होकर बैठ रहे, वह बात नहीं थी। लेकिन—' वह थोडा-सा झिझका लेकिन मैं उसका भाव ताड गया। मैंने कहा, 'ओह, मैं समझा। शायद उन्होंने सोचा कि इस आइडियाकी जाँच हिन्दुस्तानीको नहीं सौंपनी चाहिए। यही न ?'

"हाँ, मुझे डर है कि यही। जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधर से तो मोकोकुचङ् गया, वहाँ आदेश मिला। उधरसे जो फौजे आगे बढ रही थीं, सब ब्रिटिश ही थीं, थोडी-सी अमरीकी टुकडियाँ थी, बस। उनके साथ बढते हुए हम साटाखासे नीचे खुइ-बी पहुँचे, खुइ-बीके पास ही खुमनुबाटो शिखर है और उसकी ढालपर भारी जगल। दूसरी पार जुलहामीमे और साथाजूमीमे जापानी थे, यह हमें मालूम था, पर जगलमे अजीब खिचडी थी। कहीं हमारी खाइयाँ, कहीं दुश्मनकी, हमे तो कुछ पता न लगता पर वे अगामी जवान तो जैसे हवा सूँघकर दुश्मन पहचानते थे, उन्हीके भरोसे हम बढते थे। यानी आइडियाकी जाँचके लिए वह आइडियल जगह थी।'

"मेरा कुतूहल बढता जा रहा था। मैने पूछा, 'फिर. जाँच हुई ?'

"हाँ, हुई।' उसने कहा, फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जाँच। यो तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहाँ हमने लाउडस्पीकर फिट किये वहाँ टामियोकी खाई थी। दो कम्पनियाँ सात दिनसे उस खाईमें थीं चार दिनसे बारिश होती रही थी और उनकी हालत ऐसी हो रही थी कि कुछ पूछो मत। तुम्हें तो कुछ खुद ही अनुभव है—कहकर वह थोडा हँस दिया, क्योंकि कीचडसे लदफद कहीं रुककर सब कपडे उतारकर जोकें ढूँढनेका काम हम साथ कर चुके थे। मच्छरसे तो मच्छर क्रीम बचा लेती, पर कीचड और जोकसे बचाव नहीं था। फिर उसने कहना शुरू किया, "टामियोंकी हालत देखकर मैने उन्हें बताया कि हम जापानियों को सरेंडर करने को कहने वाले हैं—मैने सोचा कि इससे उनके ऊबे और हारे हुए मनको कुछ सहारा मिलेगा। सात दिनसे वहाँ पडे-पडे उनका खाना-पीना-सोना सब खाईमें ही हो रहा था, इतने दिनमे उन्हें एक भी जापानी नहीं दीखा था। लेकिन बाहर निकल कर आगे बढने या झाँकनेकी भी सख्त मनाही थी क्योंकि यह सब जानते थे कि सामने

बहुत पास दुश्मन है। जापानीकी घातमें बैठे सड़ रहे हैं, पर जापानी है कि दीखकर नहीं देता, यही हाल था। इधर जापानियोंका भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी। बल्कि बदतर, क्योंकि हमारी लाइनमें कमसे कम रसद-पट्टी तो ठीक ठीक थी, और वे कमबख्त खाने-पीनेसे भी लाचार थे—उनकी सप्लाई सर्विस ही नहीं थी। मैंने लाउड-स्पीकर लगा दिये, और एकाएक पूरे जोरसे जापानीमें ब्राडकास्ट शुरू हो गया।'

"मैंने पूछा, 'फिर ? क्या असर हुआ ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज होते ही जोरोंसे मशीनगनोंसे गोलियोंकी बौछार हुई। इसका इमकान ही था, हमने खाईसे दूर-दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पड़ी, मानो अनमनी-सी हो गई—जैसे वे बीच-बीचमें सुन रहे हों। हमने और जोरोंसे चिल्लाना शुरू किया—तुम हार गये, तुम्हारी मौत निश्चित है; गोलीसे नहीं तो भूख और बीमारीसे, जोंकोंसे खून चुसवाना सिपाहीका काम नहीं है, हथियार डालकर इधर चले आओ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, खाइयोंसे छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी प्राण-रक्षाकी हम शपथ लेते हैं, वगैरह। इधर कम्पनी कमाण्डरों को बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आये—निहत्थे या हाथ उठाकर उन्हें आने दिया जाय, बन्दी करके आरामसे रखा जाय, और फिर उन्हींसे आगे ब्राडकास्ट कराया जाय।"

मेजर वर्धन साँस लेने रुके। फिर उन्होंने जैसे जागते हुए पूछा, "तुम लोगोंका क्या ख्याल है—अपीलका क्या असर हुआ ?"

वासुदेवन्‌ने कहा, "मेरी समझमें तो असर होना चाहिए था—पर आप तो बता चुके हैं कि वह नाकामयाब हुई थी।"

मेजर वर्धन फीकी हँसी हँसे। "हाँ, असर हुआ, जोरोंका असर हुआ। नाकामयाब वह अपील नहीं—मेरी योजना हुई थी।"

तीनों प्रतीक्षामें चुप रहे। मेजर वर्धन फिर कहने लगे। "कर्नल मोजनें—यही उस अमरीकीका नाम था—मुझे बताया, एक घण्टेके हुल्लडके बाद राइफलें ऊपर उठाये दो सौ जापानी सहसा खाईमेंसे निकल गये और आगे बढने लगे। मुझे स्वप्नमें भी उम्मीद नहीं थी कि इतनी जल्दी इतना असर होगा—बादमें मालूम हुआ कि सामनेकी खाईमें कुल इतने ही आदमी थे दो-तीन अफसरोंने आत्म-समर्पणका विरोध किया था पर उनको जापानियोंने मार डाला और बाकी पीछे भाग गये दूसरी खाईमें—जापानी जंगलकी ओटसे निकलकर सामने दीखने लगे।

"मैंने कहा, 'यह तो आश्चर्य-जनक सफलता रही।' वह बोला, 'हाँ या कि रहती।' और चुप हो गया। मैंने पूछा, 'क्या मतलब?' तो थोडा रुककर बोला, 'जैसे ही उनकी मटमैली हरी वर्दी जंगलकी हरियालीसे अलग पहिचानी गई, और मैंने खुशीसे भरकर कहा कि देखो, वह आ रहे हैं, वैसे ही एक अनहोनी घटी। टामियोंकी पूरी कतारने बिना हुक्मके बल्कि हुक्मके खिलाफ, खट्से सब-मशीन-गनें उठायें और दनादन दाग दी।'

"मैंने कहा, है?' और कर्नलकी ओर देखता रह गया। उसने स्थिर दृष्टिसे मेरी ओर देखते हुए कहा, 'हाँ। शिस्त लेनेकी बात ही नहीं थी, पूरी कतार सामनें थी, अभी मैं समझ भी नहीं सका था कि हुआ क्या' कि सब जापानी चित हो गये—दो सौके दो सौ। बहुतसे तो एक साँस भी न खींच पाये होंगे, कुछ एक-आध बार कराह सके, दो- एक सिर्फ जख्मी हुए थे और बादमें अस्पतालमें मरे। पर उस वक्त सब साफ हो गया।'

"मैंने पूछा, 'मगर यह हुआ कैसे ?' वह बोला 'अब कैसे क्या बताऊँ। ब्रिटिश आर्मीकी डिसिप्लिन बहुत अच्छा है; सबसे अच्छी। मगर स्थितिकी कल्पना करो: वैसेमें जापानीकी भावनापर भी गोली दाग देना एक आटोमैटिक ऐक्शन था...वह हुक्मअदूली है, यह किसीके ध्यानमें नहीं आया होगा। और विश्वासघात है, यह तो किसीको सूझा भी नहीं होगा।' वह थोडी देर चुप रहा। फिर बोला, 'लेकिन—इस तरह योजना फेल कर गई—दुबारा मौक़ा नहीं मिला। हमने फिर भी कोशिश की, मगर विश्वास उठ गया था। हर अपीलपर और ज़ोरकी बौछार होती, हमारे लाउडस्पीकर भी उड़ा दिये गये। हमारी रिपोर्टपर कमाण्डसे हुक्म आया कि आइडिया ठप्प है, और इस प्रयोगका कहीं जिक्र न किया जाय।' मैं सुनकर चुप रह गया...मेरे आइडियाका क्या हुआ था, मेरी समझमें आ गया।"

मेजर वर्धन चुप हो गये। तीनों साथी थोडी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन्ने कहा, "मैं सोचता हूँ, उन जापानियोंके मनकी क्या हालत रही होगी उस वक्त।"

अर्जुनने बात काटकर कहा, "उनकी ही क्यों, टामियोंकी मानसिक अवस्था भी स्टडीके लायक रही होगी—उस वक्त भी, और फौरन बाद भी जब उन्हें मालूम हुआ होगा कि अपनी बेवकूफीसे ही लड़ाई कुछ और लम्बी हो गई—या कमसे कम उनकी मुसीबत—"

मेजर वर्धनने कहा, "हाँ। जापानियोंके मनकी हालतकी कल्पना कम मुश्किल है। टामियोंकी अधिक मुश्किल।"

सहसा चोपडाने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी इतनी ही है तो इसका हमारी बहससे क्या सम्बन्ध है ?"

वर्धनने मानो बात न सुनी हो, अपनी ही बातके सिलसिलेमें वह कहते गये, "लेकिन कल्पना ज्यादा मुश्किल इस लिए नहीं है, कि हम टामियोंके मनकी हालत कम जानते हैं और जापानियोंकी अधिक। बल्कि इससे

उल्टा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है। टामियोंकी मनोदशाकी कल्पना इस लिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं—एक दम ठीक, अलजेब्राकी इक्वेशनकी तरह।"

चोपडाने आग्रह किया, "यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस—"

मेजर वर्धनने कहा, "ओ हाँ, हमारी बहस! हाँ, जो जापानी आये वे—पशु थे, सधे हुए पशु, यन्त्रकी अपील थी, सुनने वाला भी यन्त्र था—विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो था, भूख, नींद, सूखे कपडेकी आस, प्राणोंका आश्वासन. ये उस पशुको खींच लाये। ठीक है न?"

"वैसी परिस्थितिमें आत्म-समर्पण अस्वाभाविक तो नहीं है—"?

"वही तो। वही तो। एक दम स्वाभाविक है। इसी लिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेकसे परे। लेकिन टामियोंका कर्म—वह-तो सधे हुए पशुका नहीं था? उसे क्या कहोगे ?"

सब थोडो देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धनने ही कहा "स्वाभाविक वह भी था—इसलिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते हैं। लेकिन अनु-शासनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, और प्राण-रक्षासे भी नहीं था कि प्राण-रक्षा वाला पशुतर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्मको कह सकते है—जैसे आँखके पास कुछ आनेसे आँख झपकती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक—"

"हाँ—और आँखके झपकनेको आप डिसिपिलनसे नहीं दबा सकते, हैं न? अगर इस तरह गोली दाग देनेको आप उस लेवलपर ले जा रहे है, तब तो मुझसे भी आगे जा रहे है. मुझे और कुछ कहना नहीं है। फौजी जीवनमें आदमी विवेक छोडकर अनुशासनके सहारे चलता है,

और युद्धका दबाव उसे अनुशासनसे भी परे ले जाता है—उस स्थितिको मैं क्या नाम दूँ ?"

थोडी देर चुप रहकर मेजर वर्धन उठ खडे हुए। खड़े-खड़े बोले, "उसके लिए नाम नहीं है। मेरा ख्याल है कि नाम जिस भाषामें होता वह भाषा हम लोग नहीं जानते।"

तीनोंने कौतूहलसे उनकी ओर देखा। वह फिर कहने लगे, "हमारी भाषा—यह विवेककी भाषा—बस्ती-गाँवकी भाषा है। पशुकी भाषा उसका अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है—उसमें अर्थ नहीं है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्रायको समझनेके लिए हमें दो-चार-छः-आठ या चलो बीस हजार बरसकी संस्कृतिको भूलना यथेष्ट है। मगर जिस भाषामें जंगलमें पेड पेडसे बोलता है, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है—उस भाषाको क्या हम जानते हैं ? जान सकते हैं ? उसे समझनेके लिए हज़ारों बरसकी सांस्कृतिक परम्पराको नहीं, लाखों-करोडों बरसकी जैविक परम्पराको भी भूलना जरूरी है। आदम-हौवाके युगमें नहीं, कच्छ, मछली और सूअरके अवतारोंके युगमें जाना जरूरी है—सूअरके दाँतपर जो धरती टँगी हुई थी—बल्कि उसमें भी नहीं, वह सूअर जिस कीचमें खड़ा था उसमें।"

मेजर वर्धनका स्वर आविष्ट था, उसकी गरमी तीनों साथियोंको छू रही थी। मगर अंगीठीकी आग ठंडी पड गई थी, मेजरका चेहरा अँधेरेमें था और तीनों एक हल्की-सी सिरहनसे काँप गये।

गैंग्रीन

●

दोपहरमें उस सूने आँगनमें पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उसपर किसी शापकी छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरणमें कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था..

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिकसे मीठे विस्मयसे जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये भीतरकी ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं हैं?"

"अभी आये नहीं, दफ्तरमें है। थोड़ी देरमें आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते है।"

"कबके गये हुए हैं?"

"सवेरे उठते ही चले जाते हैं. "

मैं "हूँ" कहकर पूछनेको हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो?" पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरेके चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह! चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूपमें तो आये हो। यहाँ तो. "

मैंने कहा, "अच्छा, लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करनेवाली थी, पर तभी दूसरे कमरेसे शिशुके रोनेकी आवाज सुनकर उसने चुपचाप पखा मुझे दे दिया और घुटनोंपर हाथ

टेककर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गई।

मैं उसके जाते हुए, दुबले शरीरको देखकर सोचता रहा—यह क्या है.. यह कैसी छाया-सी इस घरपर छाई हुई है. .

मालती मेरी दूरके रिश्तेकी बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्यका ही रहा है, हम बच से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहारमें सदा सख्यकी स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्वके, या बड़े-छोटेपनके बन्धनोंमें नहीं घिरा..

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लडकी ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चेकी माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठकी ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घरपर छाई हुई है और विशेषतया मालतीपर...

मालती बच्चेको लेकर लौट आई और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरीपर बैठ गई, मैंने अपनी कुर्सी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालतीने बच्चेकी ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टिटी, आ जा," पर वह अपनी बडी-बडी आँखोंसे मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँसे चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ . "

मालतीने फिर उसकी ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी..

काफी देर मौन रहा । थोडी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षामे था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालतीने कोई बात ही नहीं की यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ चुप बैठी है, क्या विवाहके दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गई ? याअब मुझे दूर--इस विशेष अन्तरपर-रखना चाहती है ? क्योकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती. . पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबीसे भी नहीं होना चाहिए .

मैने-कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पडता है, तुम्हें मेरे आनेसे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई—"

उसने एकाएक चौककर कहा "हूँ ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इसलिए नहीं कि माल्तीने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मयके कारण । इसलिए मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठ रहा । माल्ती कुछ बोली ही नहीं, तब थोडी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा । वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखे नीची कर लीं । फिर भी मैंने देखा, उन आँखोंमें कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालतीके भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बातको याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डलको पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तुको पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टामे सफल न हो रहा हो वैसे जैसे बहुत देरसे प्रयोगमें न लाये हुए अङ्गको व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिरविस्मृतिमें मानो मर गया है, उतने क्षीण बलसे (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता. मुझे ऐसा जान पडा, मानो किसी जीवित प्राणीके गलेमें किसी मृत जन्तुका तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये

तभी किसीने किवाड खटखटाये, मैंने मालतीकी ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशुको अलग करके उठी और किवाड खोलने गई।

वे, यानी मालतीके पति आये, मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फोटोसे उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगनमे चली गई, और हम दोनो भीतर बैठकर बात-चीत करने लगे, उनकी नौकरीके बारेमें, उनके जीवनके बारेमे, उस स्थानके बारेमें, और ऐसे अन्य विषयोके बारेमे जो पहले परिचयपर उठा करते है, एक तरहका रक्षात्मक कवच बनकर...

मालतीके पतिका नाम है महेश्वर। वह एक पहाडी गाँवमे सरकारी डिस्पेन्सरीके डाक्टर है, उसी हैसियतसे इन क्वार्टरोंमें रहते है। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते है और डेढ या दो बजे लौटते है, उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शामको एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगानेके लिए जाते है, डिस्पेन्सरीके साथके छोटेसे अस्पतालमे पड़े हुए रोगियोको देखने और अन्य ज़रूरी हिदायते करने...उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रेपर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकारके मरीज, वही हिदायते, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ वह स्वयं उकताये हुए है, और इसलिए और साथ ही इस भयङ्कर गर्मीके कारण वह अपने फुरसतके समयमें भी सुस्त ही रहते है...

मालती हम दोनोंके लिए खाना ले आई। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर, "वह पीछे खाया करती है.."

पति ढाई बजे खाना खाने आते है, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आपको तो खानेका मजा क्या ही आयेगा ऐसे बेवक्त खा रहे हैं ?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह ! देरसे खानेपर तो और भी अच्छा लगता है, भूख बढी हुई होती है, पर शायद मालती बहनको कष्ट होगा।"

मालती टोककर बोली, "ऊँहु, मेरे लिए तो यह नई बात नही है रोज ही ऐसा होता है ."

मालती बच्चेको गोदमें लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा "यह रोता क्यो है ?"

मालती बोली "हो ही गया है चिडचिड-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चेको डॉटकर कहा, "चुप कर।" जिससे वह और भी रोने लगा, मालतीने भूमिपर बैठा दिया। और बोली..."अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगनको ओर चली गई।

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे, महेश्वरने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक दो चिन्ता-जनक केस आये हुए है, जिनका आपरेशन करना पडेगा. दोकी शायद टाँग काटनी पडे, गैंग्रीन हो गया है थोडी ही देरमें वह चले गये। मालती किवाड बन्द कर आई और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटीसे खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खानेकी कौन बात है" किन्तु चली गई। मै टिटीको हाथमे लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देरके लिए शान्त हो गया।

दूर शायद अस्पतालमें ही, तीन खडके। एकाएक मैं चौका, मैंने सुना, माल्ती वही आँगनमे बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई

साँसके साथ कह रही है, "तीन बज गये. " मानो बड़ी तपस्याके बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...

थोड़ी ही देरमें मालती फिर आ गई, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो ."

"बहुत था ।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो नारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था ।" मैंने हँसकर कहा ।

मालती मानो किसी और विषयकी बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी वब्ज़ी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचेसे मँगा लेते हैं, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है..."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं. शायद दो-एक दिनमें हो जाय ।"

"बर्तन भी तो तुम्हीं माँजती हो ?"

"और कौन ?" कहकर मालती क्षणभर आँगनमें जाकर लौट आई ।

मैंने पूछा, "कहाँ गई थी ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे ?"

"क्यों पानीको क्या हुआ ?"

"रोज ही होता है. कभी वक्तपर तो आता नहीं, आज शामको सात बजे आयेगा, तब बर्तन मँजेंगे ।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई, कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, "अब इसे रातके ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई ?"

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नही था, पर मेरी सहायता टिटीने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालतीके पास जानेकी चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोडी देर फिर मौन रहा, मैंने जेबसे अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनोंके लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालतीको याद आया कि उसने मेरे आनेका कारण तो पूछा नही, और बोली, यहाँ आये कैसे ?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नही, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

"मालती कुछ नही बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोटबुककी तरफ देखने लगा।

थोडी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मै आया ता हूँ मालतीसे मिलने किन्तु यहाँ वह बात करनेको बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घरपर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मै भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती ..

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढती-लिखती नहीं ?" मै चारो ओर देखने लगा कि कही किताबें दीख पडे।

"यहाँ!" कहकर मालती थोडा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढनेको है क्या ?'

मैने कहा, "अच्छा" मै वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तके भेजूँगा ."
और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया

थोड़ी देर बाद मालतीने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारीमें?"

"पैदल।"

"इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की।"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस .." कहकर मालती चुप रह गई, फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मैं बर्तन मांज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायेगा।"

मैंने कहा, "वाह!" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं.

थोड़ी देरमें मालती उठी और चली गई, टिटीको साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छतकी ओर देखने लगा. मेरे विचारोंके साथ आँगनसे आती हुई बर्तनोंके घिसनेकी खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एकस्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...

एकाएक वह एकस्वर टूट गया—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौनमें सुनने लगा..

चार खड़क रहे थे और इसीका पहला घण्टा सुनकर मालती रुक गई थी..

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अबकी बार और उग्र रूपमें। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस

यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्रकी भाँति स्वरमें कह रही है, "चार बज गये मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिननेमें ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वरमें कहता है (किससे!) कि मैंने अपने अमित शून्यपथका इतना अंश तय कर लिया. न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई

तब छः कभीके बज चुके थे, जब किसीके आनेकी आहटसे मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाँथोंसे मुँह पोछते-पोछते महेश्वरसे पूछा, "आपने बड़ी देर की?"

उन्होंने किंचित् ग्लानि-भरे स्वरमें कहा, "हाँ, आज वह गेंग्रीनका आपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरेको एम्बुलेन्समें बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, 'गेंग्रीन कैसे हो गया?"

"एक काँटा चुभा था, उसीसे हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँके..

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं? आयके लिहाज-से नहीं, डाक्टरीके अभ्यासके लिए?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही गेंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालोंमें भी. ."

मालती आँगनसे ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है? काँटा चुभा था, इसपर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है? हर दूसरे दिन किसीकी टाँग, किसीकी बाँह काट आते हैं, इसीका नाम है अच्छा अभ्यास।"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उसकी जान गवायें?"

"हाँ, पहले तो दुनियामें काँटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटोंके चुभनेसे मर जाते हो. ."

महेश्वरने उत्तर नहीं दिया, मुसकरा दिये, मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं डाक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज़ ही ऐसी बाते सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाय तो ख्याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगनमें खुले हुए नलने कहा . टिप, टिप, टिप, टिप-टिप-टिप

मालतीने कहा, "पानी" और उठकर चली गई। खनखनाहटसे हमने जाना, बर्तन धोये जाने लगे हैं..

टिटी महेश्वरकी टाँगोंके सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था, अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालतीकी ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वरने कहा, "उधर मत जा!" और उसे गोदमें उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले. "अब रो-रोकर सो जायगा, तभी घरमें चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं? गर्मी तो बहुत होती है?"

"होनेको तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहेके पलङ्ग उठाकर बाहर कौन ले जाये? अबके नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुककर बोले, आज तो बाहर ही सोयेंगे। आपके आनेका इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वरने उसे एक पलंगपर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओरसे पलंग उठाकर निकलवा दिये।

अब हम तीनों महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलगोंपर बैठ गये और वार्तालापके लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमीको छुपानेके लिए टिटीसे खेलने लगे, बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीचमें जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था . और कभी कभी हम हँस पडते थे, या महेश्वर उसके बारेमें कुछ बात कह देते थे..

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगनके एक ओर रसोईके छप्परकी ओर चली, तब महेश्वरने कहा, "थोडेसे आम लाया हूँ, वह भी धो लेना।"

"कहाँ है ?"

"अँगीठीपर रखे है, कागजमें लिपटे हुए।"

मालतीने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचलमें डाल लिये। जिस कागजमें वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबारका टुकडा था। मालती चलती-चलती सन्ध्याके उस क्षीण प्रकाशमें उसीको पढती जा रही थी वह नलके पास जाकर खडी उसे पढती रही, जब दोनों ओर पढ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया बहुत दिनोंकी बात थी . जब हम अभी स्कूलमें भर्ती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बडा सुख, सबसे बडी विजय थी हाज़िरी हो चुकनेके बाद चोरीसे क्लाससे निकल भागना और स्कूलसे कुछ दूरी पर आमके बगीचेमें पेडोंपर चढकर कच्ची आमियाँ तोड-तोड खाना। मुझे याद आया. कभी जब मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था..

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उसके पिताने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो, हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मारकर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालतीने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज, फाड़कर फेंक देती, अपने खेलमें किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिताने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया, "हाँ,कर ली," पिताने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा" तो चुप खड़ी रही। पिताने फिर कहा, तो उद्धत स्वरमें बोली, "किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है, मैं नहीं पढ़ूँगी।"

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है... इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबारके टुकड़ेको तरसती है.. यह क्या, यह

तभी महेश्वरने पूछा, "रोटी कब बनेगी?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अबकी बार जब मालती रसोईकी ओर चली, तब टिटीकी कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गई, वह मालतीकी ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोदमें लेकर चली गई, रसोईमें बैठकर एक हाथसे उसे थपकने और दूसरेसे कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी..

और हम दोनों चुपचाप रात्रिकी, और भोजनकी, और एक दूसरेके कुछ कहनेकी, और न जाने किस-किस न्यूनताकी पूर्तिकी प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरोंपर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती पलगके एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस

पर लिटा गई थी। वह सो गया था, पर नींदमें कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वरसे पूछा "आप तो थके होंगे, सो जाइये।"

वे बोले, "थके तो आप अधिक होंगे अठारह मील पैदल चलकर आये है। "किन्तु उनके स्वरने मानो जोड दिया. "थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोडी देरमे किसी अपर सज्ञाने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे है।

तब लगभग साढे दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मै थोडी देर मालतीकी ओर देखता रहा, वह किसी विचारमें—यद्यपि बहुत गहरे विचारमे नहीं. लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर मै इधर-उधर खिसककर, पर आरामसे होकर, आकाशकी ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा उस सरकारी क्वार्टरकी दिनमे अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेटकी छत भी चॉदनीमे चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धतासे छलक रही है, मानो चन्द्रिका उनपरसे बहती हुई आ रही हो, झर रही हो.

मैंने देखा, पवनमे चीडके वृक्ष गर्मीसे सूखकर मटमैले हुए चीडके वृक्ष. धीरे-धीरे गा रहे हों. कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं

मैंने देखा, प्रकाशसे धुँधले नीले आकाशके पटपर जो चमगादड नीरव उडानसे चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते है

मैंने देखा . दिन भरकी तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाडोंमें से भापसे उठकर वातावरणमे खोये जा रहे है, जिसे ग्रहण करनेके लिए

पर्वत-शिशुओंने अपनी चीड़ वृक्षरूपी भुजाएँ आकाशकी ओर बढा रखी हैं.

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने . महेश्वर ऊँघ रहे थे और मालती उस समय भोजनसे निवृत्त होकर दही जमानेके लिए मिट्टीका बर्तन गर्म पानीसे धो रही थी, और कह रही थी. "अभी छुट्टी हुई जाती है" और मेरे कहनेपर ही कि "ग्यारह बजनेवाले हैं," धीरेसे सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं . मालतीने वह सब कुछ नहीं देखा, मालतीका जीवन अपनी रोजकी नियत गतिसे बहा जा रहा था और एक चन्द्रमाकी चन्द्रिकाके लिए, एक संसारके सौन्दर्यके लिए, रुकनेको तैयार नहीं था

चाँदनीमें शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासासे मैंने टिटीकी ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामतासे उठा और खिसककर पलंगसे नीचे गिर पडा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वरने चौंककर कहा "क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौडा, मालती रसोईसे बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट्' शब्दको याद करके धीरेसे करुणा-भरे स्वरमें कहा, "चोट बहुत लग गई बिचारेके।"

यह सब मानो एक ही क्षणमें, एक ही क्रियाकी गतिमें हो गया।

मालतीने रोते हुए शिशुको मुझसे लेनेके लिए हाथ बढाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पडता है।"

एक छोटे क्षण भरके लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मनने, मेरे समूचे अस्तित्वने, विद्रोहके स्वरमें कहा.. कहा मेरे मनने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला. "माँ, युवती माँ, यह तुम्हारे हृदयको क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चेके गिरनेपर ऐसी बात कह सकती हो.. और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्बमें कोई गहरी भयङ्कर छाया घर कर गई है, उनके जीवनके इस पहले ही यौवनमें घुनकी तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसीकी परिधिमे घिरे हुए चले जा रहे है। इतना ही नहीं, मैंने उस छायाको देख भी लिया

इतनी देरमें, पूर्ववत् शान्ति हो गई थी। महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालतीके लेटे हुए शरीरसे चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटेसे शरीरको हिला देती थी। मै भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाशमे देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिकाको या तारोंको ?

तभी ग्यारहका घण्टा बजा, मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा-कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षासे मालतीकी ओर देखा। ग्यारहके पहले घण्टेकी खडकनके साथ ही मालतीकी छाती एकाएक फफोलेकी भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घण्टा-ध्वनिके कम्पनके साथ ही मूक हो जानेवाली आवाजमें उसने कहा, "ग्यारह बज गये "

नीली हँसी

देवकान्तने एक बार फिर नीचे बहते हुए और ऊपरसे बरसते हुए पानीकी मिलनरेखा पहचाननेकी कोशिश की। पर नीचेका मटमैला धुँधला आलोक, कब कहाँ ऊपरसे भूरे धुँधले आलोकमे परिवर्तित हो जाता था, यह पहचान पाना असम्भव था। पानी-पानी-पानी केवल पैरोंके बिल्कुल निकट, जहाँ ब्रह्मपुत्रके बौराये हुए पानीने अभी थोडी देर पहले किनारेके एक बडे टुकडेका निवाला बना लिया था, वह देख सकता था कि पानीकी बौराहट मानो अन्तर्मुख होकर अपने ही को निगले जा रही थी—पानीके चक्रावर्त घूमते हुए अपनेको ही नीचे पातालकी ओर खींचते हुए बहते चले जाते थे आवर्त्तके छोरको जो कुछ भी छूता—जल-कुम्भीके बहते हुए पौधे, गली हुई टहनियाँ, पुराने छप्परके काले पडे हुए बाँस, बाढकी नदीमे बहकर आनेवाला नानाविध नामहीन कचरा—सब उसे छूते ही मानो आविष्ट हो जाता और बगूलेके बीचोंबीच जाकर पातालकी ओर कूद पडता दृष्टि भी तो उसे छूते ही मानो नीचेकी ओरको चूस ली जाती है, तो और चीजोंका क्या कहना..

थोडी देर स्थिर दृष्टिसे बगूलेको देखते रहनेपर देवकान्तके शरीरमे एक सिहरन-सी दौड गई—उसकी देह कण्टकित हो आई। उसने फिर बलात् आँखे उठाकर उस ओर देखा जहाँ क्षितिज होना चाहिए। ठाकुरकी एक पंक्ति उसकी स्मृतिमें उभरकर डूब गई "रात्रि एशे जेथाय मेशे दिनेर पारावारे"—दिन और रात्रि तो इस निर्विशेष प्रकाराम पहचाने नही जाते, पर पारावारमें मिस जानेका प्रत्यक्ष दृश्य इससे बढकर क्या हो सकता है ..

लेकिन मिस जानेकी बात ऐसे सोचनेसे काम नही चलेगा। नदी और सागर, दिन और रात, आकाश और धरातल, पानी और किनारा—

ये उसे अलग-अलग पहचानने होंगे—इन्हें पृथक् करके ही वह उस काममे सफलताकी आशा कर सकता है जिसे उसे उठाना ही है, असफलताका जोखम उठाकर भी हाथ लगाना ही है—यद्यपि असफल उसे नहीं होना है—असफलताकी गुंजाइश छोड सकने लायक गुंजाइश उसकी सहनशक्तिमे नहीं है

वह वह—क्या वह क्षितिज-रेखा है—जल-रेखा है ? क्या यह उसका भ्रम है कि ठीक वहींपर एक पतली सी श्यामल रेखा भी वह देख सका है—द्वीपकी तरु-पंक्तिकी रेखा ? नहीं भ्रमकी भी गुंजाइश नहीं है, आँखोंको, हाथोंको, जीको, किसीको भी चूकनेकी गुंजाइश नहीं है...

देवकान्तने एक लम्बी साँस लेकर नावके एक सिरेसे दूसरे तक नजर डाली, फिर उसकी रस्सी हाथमे लिये-लिये उसके किनारेपर चढे हुए हिस्सेको ठेलते हुए कूदकर उसपर सवार हो लिया। नाव थोडा-सा काँपी-डगमगाई। फिर धारामे पडते ही तीरकी तरह एक ओर बढ चली. देवकान्तने एक बार फिर पार करके क्षितिजकी ओर देखा, और स्थिर भावसे डाँड चलाने लगा। तनिक-सी देरमें ही वह भी किनारेसे दूर होकर इतना छोटा-सा दीखने लगा मानो वह भी जलकुम्भीका बहता हुआ एक पौधा हो—वह नहीं, समची नाव एक छोटा-सा उन्मूलित पौधा हो, और वह उसका ऊब-डूब करता हुआ-सा नीला फूल, कोमल क्षणजीवी फूल, किन्तु जो जबतक है सुन्दर है। मानो एक स्वतः सम्पूर्ण दुनिया है..

कहींसे हवा उठी। उससे पानीके ऊपरकी धुन्ध मिटने लगी, वर्षा भी थम गई, पानी स्पष्ट दीखने लगा—स्पष्ट किन्तु सम नहीं, बगूलो का स्थान उत्ताल तरंगोंने ले लिया था—पर ये छोटी-छोटी तरल पहाडियाँ न भी होतीं तो भी देवकान्त और उसकी नाव कबके ओझल हो चुके थे.

× × ×

देश और कालका फैलाव वहीं सबसे अधिक होता है जहाँ उनका महत्त्व सबसे कम होता है—जब-जब जीवनमे तनाव आता है और सारी

प्राण-शक्ति एक केन्द्र या विन्दुमें सचित होने लगती है तब तब देश-काल भी उसी अनुपातमे सिमट आते हैं देवकान्त नाव खे रहा है, उसके सामने, आगे-पीछे, कहीं उस क्षणके सिवा कुछ नही है जिसमे वह है और नाव खे रहा और मोहनकी बडी-बडी काली आँखोकी ओर जा रहा है—मोहन जो एक हिरनका छौना है जिसे नीलिमाने उसे दिया था—किन्तु फिर भी उस क्षणमे ही कई देश-काल संचित हो आये हैं—वह एक साथ ही कई स्थानों, कई कालोंमे जी रहा है, कई घटनाओ का घटक है

द्वीपके आर-पार पत्थरोंके ढेर लगाकर पटरी बनाई गई है, जिसपरसे सडकके पास ही नीची भूमिपर बाँसकी एक बाड है, जिसके भीतर कदलीकी घनी बाड है। देवकान्त बाहर बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कदलीके पत्तोंके बीचमेसे उसे कभी-कभी एक सफेद आँचलकी झलक मिल जाती है—नीलिमा भीतर फूल बीन रही है वह वहीं रहती है, वहीं और लडकियोंके साथ पढती है, वहींसे कभी उसका बारह वसन्तोंके कूजनसे भरा हुआ स्वर नाम-कीर्तन करता हुआ सुनाई दे जाया करता है, वहीं .

बाढ आती है तो द्वीपमें पानी भर जाता है, उतरती है तो जगह-जगह खाल, बील, दिग्घी, ताल बनाकर छोड़ जाती है। निर्धन लोग बचनेके लिए पेडोपर मचान बनाते है, सम्पन्न दो-एक व्यक्तियोंने बजरे रख छोडे है, पानी उतर जानेपर किसी खाल-पोखरमे खडे रहते हैं। साधारण बाढमें यही जीवन-रक्षाके लिए यथेष्ट होते हैं—अधिक बाढमें उनका भी ठिकाना नहीं—पर ऐसी कौन-सी स्थिति है जिसमें किसी प्रकार भी कोई खतरा न हो...ऐसे ही एक बजरेकी ओटमे पोखरके किनारे उसका घर है। उसका पिता कुशल महावत है और हाथी को साधनेमे उसकी बराबरी सारे असममे विरला ही कर सकता है। और देवकान्त स्वय एक मटकी दहीकी लेकर बजरेके नीचेसे गुजरता है—वह नावमे बैठा भी अपने को मटकी लिये जाता देख रहा है ..

दो वर्ष बराबर बाढ आई थी, द्वीप प्राय: नाम शेष हो गया था। और अब वहाँ न जलानेको तेल था, न खानेको नमक—दोनों ही 'चालानी' आते थे...देवकान्त कदलीके तने जलाकर उनकी राख मसल रहा है—इसीका खार उन्हें दुर्दिनमें नमकका काम देता है. खार वह हँडियामें भर लेगा—न जाने कितने दिन चलेगी वह। भोजनका धूमिल रंग मानो उसकी दृष्टिके आगेसे दौड गया, और उसके कटु स्वादसे उसका मुँह कड़ुवा हो आया—वह थूककर मुँह साफ कर लेता पर उसे ध्यान आया कि कदलीकी अवज्ञा अनुचित है—जिसकी जड़ें, हाट, छाल, फूल, फल सभी उपयोगी हैं और उनके भोजन-छाजनका सहारा है ..

"देबू, यह लो।"

देवकान्त चौंककर देखता है। नीलिमाके वस्त्र उजले हैं, नेत्र काले, केश भीगे, और वह डोरेसे झूलती एक छोटी-सी मुँह-बँधी हँडिया उसकी ओर बढ़ा रही है।

"यह क्या है, नीली?"

"नमक। हमारे पास एक हाँडी और है। बिहू तक चल जायगा।"

"लेकिन खार तो अच्छी होती है—हमने इतनी बना ली—"

"लो—बहस मत करो!" आज्ञापना।

"अच्छा, लाओ।" कुछ विनोदका भाव: "नीली, तो आजसे हम तुम्हारा नमक खायेंगे—"

"धत्!"

× × ×

ढोलकोंका स्वर। खोल, मादल, झाँझ, वेणु, घंटी। बीच-बीचमें ऊँचा उठता समवेत गायनका स्वर।

देवकान्त दौड रहा है। विषुवोत्सवका आमोद-प्रमोद, और वह अभी पहुँचा नहीं—पिताने उसे काममें रोक लिया था...

लडकियोकी खिलखिलाहट । पुआलकी और पुआलके धुएँकी गन्ध। बूढोंके खाँसनेमे भी जैसे प्रसन्नताकी मींड । गुड और खीलोंका कसैला मीठा स्वाद । एकाएक पुआलकी आगकी एक ममकती लपट, उसके लाल प्रकाशमे नीलिमाका दमकता चेहरा—उन आँखोंमे देवकान्तके शायद वैसे ही दमकते चेहरेकी सहसा उभरती पहचान—क्या पुआलकी आगमें उसकी शतांश भी दीप्ति है जो क्षण भर नीलिमाकी आँखोंमें दमक उठती है?

झाँझ, मजीरा, वेणु, खोल, मादल.

× × ×

कुछ नहीं बचा है, केवल द्वीपके आर-पारकी वह ऊँची पटरी, और पेडोंके ऊपरी हिस्से—उनपर मचान, पटरीके निकट तीन-चार बजरे और पटरीपर अनगिनती ढोर-डागर, कुछ कुत्ते, कहीं-कहीं दुबकते लोमडी-सियार, जगह-जगह अवसरे रेंगते साँप, तीन-चार हाथी और कभी-कभी दूरके एक टीलेकी हाथी डूब घासमेंसे आती हुई बाघकी चिग्घाड । और कुछ नहीं बचा है, लेकिन यही तो सब कुछ है, इससे कम पर भी बार-बार उनका जीवन फिर भरा-पूरा हुआ है, बाढ उतरेगी तो फिर मादल गूँजेगे और मृदग गमक लेंगे और ऋतुस्नाताकी भाँति कान्तिमान् द्वीप-भूमि मेमनोंकी मिमियाती हँसीसे मुखरित हो उठेगी .

अब भी बजरेकी ओटमे देवकान्त है । पटरीके पार मचानके पास नीलिमा आती है—उसकी गोदमे एक मृगका बच्चा है । कितना सुन्दर । देवकान्त ललककर कहता है, "यह कहाँ पाया?"

पर नीलिमाके स्वरमे अप्रत्याशित गम्भीरता है । "इसे रखोगे?"

"क्यो—क्या बात है?"

"मचानमे नहीं रह सकता । तुम अपने साथ पटरीपर रखो, या बजरेपर—वहाँ बच जायगा ।"

"पर पाया कहाँ?"

"पिता लाये थे। भटका हुआ मिला था। मैंने मोहन नाम रखा है।"

"सचमुच मोहन है। इतना प्यारा है! मैं जरूर पाल लूँगा—बचा लूँगा। "फिर शरारतसे, "पर फिर मैं लौटाऊँगा नहीं—मेरा हो जायगा!"

"मैंने कुछ भी जो तुम्हें दिया है कभी वापस माँगा है?" स्वर शान्त है, लेकिन उसमें दबी हुई, एक कँपकँपी है जिससे देवकान्त चौंक सा जाता है, "आगे भी जो दूँगी, वापस नहीं माँगूँगी।"

"नीलिमा—नीली?"

"तुम बचाकर रख सको सही।"

नहीं, भूल नहीं हो सकती, इस बातका मोहनसे कोई सम्बन्ध नहीं है. देवकान्त अवाक् उसे देखता है, उसके भीतर कहीं कुछ गा उठता है—ब्रह्मपुत्रकी बहावकी तरह मन्द्र गम्भीर, मोहनकी आँखोंकी तरह गहरा, गहरा, गहरा .

× × ×

"नीली, यह देखो-देखो क्या लाया।"

केवड़ेका फूल है, गमछेमें लिपटा हुआ। देवकान्त खोलकर उसे दे देता है।

"गन्ध तो कभी-कभी आती थी। कहाँपर था? पटरीपर तो मैंने सब देखा था।"

"हाँ, देखा?" देवकान्तके स्वरमें विजयका गर्व है। पटरीपर नहीं था—ऐसी चीजें जरा मेहनतसे मिलती हैं।" उस झोपके अन्दर—" कहते-कहते उसने टीलेकी ओर इशारा किया।

"झोप—क्या कहा?" नीलीका स्वर सहसा चीत्कार-सा बन गया, उस टीलेकी ओरसे ही तो बाघकी दहाड सुनाई दी थी। "हटो, मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी केतकी—"

नीलीने फूल उसके हाथपर पटक दिया, कॉटेसे उसका हाथ छिल गया पर उससे बोला ही नही गया।

"हजार बार कहा है देबू, मुझे फूल नहीं चाहिए, मुझे तुम्हारी—" सहसा रुककर उसने ओठ काट लिया, उसका चेहरा लाल हो आया, "अच्छा लाओ, दो—" कहकर उसने फूल झपट लिया और आँचलसे उसे ढकती हुई भाग गई।

× × ×

डिब्रूगढका स्कूल। देवकान्तने पढाई पूरी कर ली है, और अभी स्कूलमे मास्टरी शुरू की है। इतने छोटे मास्टरसे उसने स्वय कभी नही पढ़ा,पर प्रगति तो इसीका नाम है कि कल जो छत्तीस बरसके बुजुर्ग करते थे आज अठारह बरसके जवान करे

नीलीकी चिट्ठी।। वे लोग द्वीप छोडकर जानेवाले हैं। बाढ आ रही है, और सुना है कि इस साल सब डूब जायगा मोहनकी उसे चिन्ता है—अगर सचमुच उतनी बाढ आई तो पटरीपर जमा असख्य जानवरोमें उसकी कौन चिन्ता करेगा? वह सोच रही है कि उसके लिए पटरीपर ही एक छोटी-सी झोपडी बना जाय, पर क्यो नहीं वह आकर उसे ले जाता? जल्दी आये तो नीली भी उसे देख लेगी—लेकिन अब बडा आदमी होकर क्या वह नीलीको पहचानेगा भी? नही तो मोहनको तो वह ले जा ही सकेगा—स्कूलके मास्टर साहब तो लडकोसे ढोर चरवा लेते हैं, क्या वह मोहनकी देख-भाल नहीं करा सकेगा?

देवकान्त चिट्ठीपर मोहर देखता है, तारीख पढता है, मानो उँगलियोंपर कुछ गिननेको होता है—और फिर हाथ ढीला छोड देता है

× × ×

झॉझ, मजीरा, खोल, मादल. पानीका घर्र-घर्र, सर-सर-सर-सर, छप्प-छप्प-छाऽप छप्प, डाड़ोका खट्ट-हुठ्, देवकान्तकी अपनी सॉसोंका स्वर

जो कानोंके पाससे सरसराते पवनके स्वरमें डूबता नहीं क्योंकि अपनी साँस भीतरसे सुनी जाती है, बाहरी कानसे नहीं, और डाँडोंकी विलम्बित लयपर अधीर उसके हृदयका द्रुत धक्क-धुकु, धक्क-धुकु.. और स्वरोंकी इस छोटी सी गठरीके आस-पास चारों ओर मटमैला ललौंहाँ पानी—पानी—पानी.

वह—वह—वह क्या भूमिकी रेखा है ? वह छाया-सी—क्या पेड़ है ?

मोहन—मोहन क्योंकि नीलीका नाम वह लेगा तो चंचल हो उठेगा, और चंचल उसे नहीं होना है, उसे धैर्य रखना है, जितना धैर्य उसने जीवनमें कभी नहीं रखा उतना

× × ×

धैर्यका काम अभी शेष नहीं हुआ है। नावपर मोहन उसके साथ है, पर अब हवा सामने की है, और तेज है। और मोहनकी चिन्ताके मिटनेमें जो अनेक नई दुश्चिन्ताएँ उसे घेर रही हैं उनसे हारना नहीं है, नहीं है..

खट्ट-हुट्, खट्ट-हुट्,. सर-सर-सर-सर-छप्प-छाऽप .उद्वेलित पानी का प्रसार, हवाके थप्पड़ खाकर फुफकारती हुई लहरें, धुँधला पड़ता हुआ पहले ही से मेघिल रूआँसा आकाश. ऊब-डूब नाव, डाँड चलाने वाला अकेला देवकान्त—तैरता हुआ उन्मूलित जलकुम्भीका पौधा—पौधा नहीं, फूल—फूलकी एक कलगी—नीली, जैसे मोहनकी आँखें नीली—

नीली...

न, न, नीलीका नाम उच्चारना नहीं होगा, उसे मन-ही में रहने देना होगा ऊब-डूब जलकुम्भीका पौधा—लेकिन पौधा तो डूबता नहीं, मीलों बहता है, दिनों बहता है

पंजिकामें लिखा है, इस वर्षका नाम है, 'प्लव संवत्सर'—

ब्रह्मपुत्र ब्रह्माका पुत्र.. और मानव ? वह भी ब्रह्माकी सन्तान. . तो क्या यह भ्रातृ-कलह है ? खट्ट-हुट्—सोचना कुछ नहीं है, ब्रह्माका

केवल एक पुत्र है और उसका नाम है देवकान्त, बाक़ी केवल तत्त्व हैं, जड तत्त्व जिनमें आदमी नष्ट होकर मिलता है—नीचे एक तत्त्व है पानी—नष्ट होकर क्या इनमें मिलना होगा ? क्यो मिलना होगा—नष्ट ही क्यों होना होगा ?

लहर आती है और जलकुम्भीके पौधेको उछालकर फेंक देती है। वह डूबता नही, पर जायगा कहाँ—दिनों और मीलो तक भी बहकर

न—यह लहर नावसे बडी है, यह अँधेरा साँझसे गहरा है—

भूरा और शीतल, कठोर, डगमग, बिना पेंदीका, अँधेरा, बाँहके नीचे स्निग्ध, मुट्ठीमें गीला और कटैठा—

दिन और रात दोनो पारावार है, सारे क्षितिज आकर मिल जाते हैं, जलकुम्भी डूबती नहीं है, पर जलकुम्भी पानीका पौधा है, लकडीकी नाव नही

× × ×

फिर देशकालका सकुल : कौन-सा देश, कौन-सा काल, न जाने, पर घोर सकुल.

द्वीपपर केवल पटरी थी, ओर पेडोंके शिखर थे। और पशु थे।

मोहन था। अलग एक छोटेसे बाडेमे।

और कौन कहाँ था। पर कालका सकुल था, वह जान नहीं सका। कहीं बजरा भी रहा होगा—लोग भी रहे होगे

नीली—नीलिमा ?

वहाँ कोई नहीं था। वे बाढके पहले चले गये होगे। पर कब, कैसे ? कहाँ ?

नावमे—तो नाव बाढमे कहाँ गई होगी ?

नीलिमा—नीली—सागर-तल नीला होता है—पर नदी-तल तो उसने

छुआ है, वहाँ तो नीलिमा नहीं, कीचड होता है या रेती, नीलिमा तो—

कहाँ है नीलिमा ?

नीलिमा नीलिमा. नहीं, मोहन—मोहन उसकी बाँहके नीचे है, मोहनको वह बचा लेगा। वही नहीं बचेगा तो ? तो भी वह मोहनको बचा लेगा, उसकी दूसरी मुट्ठीमे कटैठा कुछ है—क्या है ? डॉड तो उसके हाथसे छूट गई थी—

कुछ भी हो, कुछ है। कटैठा है। वह जरूर ऊपर आयेगा—वह छोड़ेगा नहीं—तुम बचाकर रख सको सही—आगे भी जो दूँगी वापस नही मागूँगी—मैने कुछ भी जो तुम्हें दिया है कभी वापस माँगा है ? न माँगा सही, मै दूँगा, मै दूँगा, नीली। क्या दोगे, प्राण ही तो न ? हा—हा—तभी तो तुम कुछ नहीं दे सकोगे—कुछ नहीं सँभाल सकोगे .

नहीं—नहीं—नहीं मोहन अब भी उसकी बाँहके नीचे है, दूसरे हाथकी मुट्ठीमे अब भी कटैठा कुछ है—वह उभरेग, उभरेगा—यह पानीके नीचे ऐसी जलती प्यास कैसी—यह हवाकी प्यास है, वह—उसकी मुट्ठीमे कटैठा कुछ...

× × ×

कितनी गहरी है नीलिमा आकाश की—उस आकाशकी जो आँखोंके भीतर समा जाता है, कितनी स्निग्ध है तरलता जलकी—उस जलकी जिसमे चेतना डूब जाती है, कितना सुन्दर है जलकुम्भीका खोया हुआ फूल, वह फूल जो जीवनका प्रतीक है. कितना रसमय, स्फूर्तिमय है विस्तार अवचेतन का .

वह नही जानता, किन्तु वह जानता है कि वह बार-बार किसी चीजसे रगड खा जाता है—कुछ जो चिकना है पर छील भी देता है, जिससे दर्द नही होता पर ठडकी सुइयाँ चुभती है। उसे स्पर्श-ज्ञान नही है पर वह

छूता है एक लोमिल त्वचाको जो मोहन है, और एक कठैठे कुछको जो न जाने क्या है। उसके मुँहमे पानीका एक बुलबुला है, पर न जाने कब कैसे उसके फेफडोमे क्या चला जाता है जो गीला नहीं है

ये स्वर है। पानीके नही, नावके नहीं, हवाके नही। स्वर हैं—मानव-स्वर हैं। झिपते उभरते, मानो स्वहीन।

"बॉह तो उठाओ पकडे गला घोंट देगा अकड गई है .. कपडेमे लपेटो मलो पानी ऊँचा वह हिरन पागल "
' हिरन हिरन...

क्या हिरन? उफ् कितना कठिन प्रयास है यह—क्या उसे बटोरना है–

सहसा उसकी ऑखे खुल गई—उसे स्वय नहीं मालूम हुआ—और उसने कहा "मोहन—हिरन—"

किसीने कहा, "हॉ, वह है—बच जायगा—"
कौन बच जायगा? मोहन? वह?

वह कौन? वह देवकान्त। पर वह तो बच गया है—नही तो वह देवकान्त कैसे है? सोचता कौन है?

उसने फिर स्वहीन स्वरसे कहा, "मोहन "

उसकी ऑखें झिप गईं। नीलिमाने फिर उसे घेर लिया। दूर कहीं सुना, "चिन्ता नही—बच जायगा—" फिर सब कुछ बुझ गया।

मन-ही-मन उसने कहा, "नीली, मै रख सकूँगा बचाकर" पर जैसे उसका कहा उसीने नहीं सुना। नीली तो बहुत दूर थी, पता नहीं थी भी कि नहीं।

पर और कुछ उसने फिर सुना बड़ी दूरसे, जैसे पानीके नीचेसे, ब्रह्म-पुत्रके अथाह पानीके नीचेसे—"पागल—बेहोशीमें हँसता है।"

हाँ, तो हँसता तो है, नीली हँसी—सम्पृक्त हँसी—वह हँसी जो नीली थी—उसकी नीलिमा!

मेजर चौधरीकी वापसी

❀

किसीकी टॉग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाईका पात्र नहीं माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छः सप्ताह अस्पतालमे काटकर बैसाखियोके सहारे लडखडाते हुए बाहर निकले, और बाहर निकलकर उन्होने मिजाजपुर्सीके लिए आये हुए अफसरोंको बताया कि उनकी चार सप्ताहकी 'वार लीव' के साथ उन्हे छ सप्ताहकी 'कम्पैशनेट लीव'[1] भी मिली है, और उसके बाद ही शायद कुछ और छुट्टीके अनन्तर उन्हें सैनिक नौकरीसे छुटकारा मिल जायगा, तब सुनने वालोके मनमे अवश्य ही ईर्ष्याकी लहर दौड गई थी। क्योंकि मोकोक्चङ् यों सब-डिवीजनका केन्द्र क्यों न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जगलोका ही एक हिस्सा था, और जोक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड फर्श, पीने को उबाला जानेपर भी गॅदला पानी और खाने को पानीमें भिगोकर ताजे किये गये सूखे आलू-प्याज—ये सब चीजें ऐसी नहीं हैं कि दूसरो के सुख-दुखके प्रति सहज औदार्यकी भावनाको जाग्रत करें?

मैं स्वय मोकोक्चङ्में नही, वहॉसे तीस मील नीचे मरियानीमें रहता था, जो कि रेलकी पक्की सडक द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणोंके लिए मरियानीपर निर्भर था इसलिए मैं जब-तब एक दिनके लिए मोकोक्चङ् जाकर वहॉकी अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आली[2] से आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाडी कीच-कॉंदोंमे फॅस-फॅस जाती है, किन्तु उस प्रदेशकी आब नगा जातिके हॅसमुख चेहरो और साहाय्य-तत्पर व्यवहारके कारण वह जोखम बुरी नहीं लगती।

---

१ समवेदना-जन्य छुट्टी। २. चार-आली = चौरास्ता, आली असमियामें सडकको कहते हैं।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानीसे रेल-द्वारा वह गोहाटी होते हुए कलकत्ते जायँगे और वहाँसे अपने घर पश्चिमको

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डरसे कि कहीं मेरा प्रश्न उन्हें कष्ट ही न दे, "आपके इस—इस एक्सिडेंटसे अवश्य ही इस प्रत्यागमनपर एक छाया पड गई है, पर फिर भी घर तो घर है—"

अस्पतालके छः हफ्ते मनुष्यके मनमें गहरा परिवर्तन कर देते हैं, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरीने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, "हाँ घर तो घर ही है। पर जो एक बार घरसे जाता है, वह लौटकर भी घर लौटता ही है, इसका क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टिसे उनकी ओर देखा। कौन-सा गोपन दुःख उन्हें खा रहा है—'घर' की स्मृतिको लेकर कौन-सा वेदनाका ठूँठ इनकी विचार-धारामें अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंने कुछ कहा नहीं, प्रतीक्षामें रहा कि कुछ और कहेंगे।

देर तक मौन रहा. गाडी नाकाचारीकी लीकमें उचकती-धचकती चलती रही।

थोड़ी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे, "देखो, प्रधान, फौजमें जो भरती होते हैं न जाने क्या-क्या सोचकर, किस-किस आशासे। कोई-कोई अभागा आशासे नहीं, निराशासे भी भरती होता है, और लौटनेकी कल्पना नहीं करता। लेकिन जो लौटनेकी बात सोचते हैं—और प्रायः सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटनेकी बात नहीं सोचते—"

उनका स्वर मुझे चुभ गया। मैंने सान्त्वनाके स्वरमें कहा, "नहीं मेजर चौधरी, इतने हतधैर्य आपको नहीं—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

मैं रुक गया।

"मेरी जाँघ और कूल्हेमें चोट लगी थी, अब मै सेनाके कामका न रहा पर आजीवन लँगडा रहकर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुमने अस्पतालमें सुना है। सिविल जीवनमें कई पेशे है जो मै कर सकता हूँ। इसलिए घबरानेकी कोई बात नहीं। ठीक है न ? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगेकी बात कहनेमे उन्हे कष्ट हो रहा है, "पर चोटे ऐसी भी होती हैं—जिनका इलाज--नही होता "

मैं चुपचाप सुनता रहा।

"भरती होनेसे सालभर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल हो गये। हमलोग साथ लगभग नहीं रहे--वैसी सुविधाएँ नहीं हुईं। हमारी कोई सन्तान नहीं है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओरसे कुछ अपेक्षित है ? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथाकी बात अगर वह कहना चाहते है, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवनमें शुरूमे--इतनी--कोमलता न बरती होती। कहते हैं कि स्त्री-पुरुषमे पहले सख्य आना चाहिए—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियोंसे उनकी तरफ देखा। सीधे देखनेसे स्वीकारी अन्तरात्माकी खुलती सीपी खट्से बन्द हो जाया करती है। उन्हे कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार नहीं था और अगर उनके कहनेके ढगमें ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उनसे पूरा व्यजनार्थ भी मैं न पा सकता .

"हमारी कोई सन्तान नहीं है। और अब—जिससे आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है ? उसे—एक सन्तानका ही सहारा

होता.. कुछ नहीं ! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मजाक है—कम्पैशन भगवान्‌को छोड़कर और कौन दे सकता है और मृत्युके अलावा होता कहाँ है ? अब इतिसे आरम्भ है ! घर !" कुछ रुककर, "वापसी ! घर !"

मैं सन्न रह गया। कुछ बोल न सका। थोड़ी देर बाद चौंककर देखा कि गाड़ीकी चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गई है, इतनी कि तीसरे गीयर पर वह झटके दे रही है। मैंने कुछ सँभलकर गीयर बदला, और फिर गाड़ी तेज करके एकाग्र होकर चलाने लगा—नहीं, एकाग्र होकर नहीं, एकाग्र दीखता हुआ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटकेसे हिलाकर मानो उस विचारशृंखलाको तोड़ते हुए सीधे होकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया। तुम्हारे प्रश्नोंके लिए तैयार नहीं था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नहीं है कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ? कुछ बातें शब्दोंसे परे होती हैं—शायद कल्पनासे भी परे होती है। क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौटकर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोड़ो इसे। तुम्हें याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिसमें चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे है। पूरी दिलचस्पीके साथ बोला, "हाँ-हाँ। वह अनुभव भी अजीब रहा होगा।"

"हाँ। तभी की एक बात अचानक याद आई है। मैं शिलगमें प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ्तरमें था। तब—वे डिवीजनकी कुछ गोरी पल्टनें वहाँ विश्राम और नये सामानके लिए बर्मासे लौटकर आई थी।"

---

१. सैनिक पुलिसका उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है।

"हाँ, मुझे याद है। उन लोगोंने कुछ उपद्रव भी वहाँ खड़ा किया था—"

"काफी। एक रात मै जीप लिये गश्तपर जा रहा था। हैपी वैलीकी छावनीसे जो सडक शिलग वस्तीको आती है वह बडी टेढी-मेढी और उतार-चढावकी है और चीडके झुरमुटोसे छाई हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोडसे निकला ही था कि मुझे लगा कुछ चीज रास्तेसे उछल कर एक ओरको दुबक गई है। गीदड-लोमडी उधर बहुत है, पर उनकी फलॉग ऐसी अनाडी नहीं होती, इसलिए मै रुक गया। झुरमुटोंके किनारे खोजते हुए मैने देखा, एक गोरा फौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोचकर मैंने उसे जरा धमकाया और नाम, नम्बर, पल्टन आदिका पता लिख लिया। वह बिना पासके रातको बाहर तो था ही, पूछनेपर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्-थिम्-माईकी बस्तीको जा रहा था। इससे आगेका प्रश्न मैंने नही पूछा—उन प्रश्नोका उत्तर तुम जानने ही हो और पूछकर फिर कडा दण्ड देना पडता है जो कि अधिकारी नहीं चाहते—जब तक कि खुल्लमखुल्ला कोई बडा स्कैंडल न हो।"

"हूँ। मैंने तो सुना है कि यथासम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातोंकी। बल्कि कोई वेश्यालयमे पकडा जाय और उसकी पेशी हो तो असली अपराधके लिए नहीं होती, वर्दी ठीक न पहनने या अफसरकी अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्मके लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराधके लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हो कि सेना बदनाम हो जाय, इससे इसका असर फौजियोपर भी तो उलटा पडे—उनका दिमाग हरवक्त उधर ही जाया करे। खैर। उस दिन तो मैंने उसे डॉट-डपटकर छोड दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थितिमे उसका सामना हुआ।"

"वह कैसे ?"

"उस दिन मैं अधिक देर करके जा रहा था। आधी रात होगी, गश्तपर जाते हुए उसी जगहके आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाडी रोककर मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च लेकर एक पुलियाकी ओर गया जिधरसे आवाज आई थी। मेरा अनुमान ठीक ही था, पुलियाके नीचे एक पहाडी औरत गुस्सेसे भरी खडी थी, और कुछ दूरपर एक अस्त-व्यस्त गोरा फौजी, जिसकी टोपी और पेटी जमीनपर पडी थी और बुशशर्ट हाथ मे। मैंने नीचे उतरकर डाँटकर पूछा, 'यह क्या है ?" पर तभी मैंने उस फौजीकी आँखोमें देखकर पहचाना कि एक तो वह परसो वाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफी नशेमें है। मैंने और भी कडे स्वरमे पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आती ? क्या कर रहे थे तुम ?'

"वह बोला, 'यह मेरी है।"

"मैंने कहा, 'बको मत!' और उस औरतसे कहा कि वह चली जाय। पर वह ठिठकी रही। मैंने उससे पूछा, 'जाती क्यो नहीं ?' तब वह कुछ सहमी-सी बोली, 'मेरे रुपये ले दो' ।"

"काफी बेशर्म ही रही होगी वह भी!"

"हाँ, मामला अजीब ही था। दोनोंको डाँटनेपर दोनोंने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उससे यह समझमे आया कि दो-तीन घण्टे पहले वह गोरा एक बार उस औरतके पास हो गया था और फिर आगे गाँवकी तरफ चला गया था। लौटकर फिर उसे वह रास्तेमें मिली तो गोरेने उसे पकड लिया था। झगडा इसी बातका था कि गोरेका कहना था, वह रातके पैसे दे चुका है, और औरतका दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फौजी उसका देनदार है। मैंने उसे धमकाकर चलता किया। पहले तो वह गालियाँ देने लगी पर जब उसने देखा कि गोरा भी गिरफ्तार हो गया है तो बडबडाती चली गई।"

"फिर गोरेका क्या हुआ ? उसे तो कड़ी सजा मिलनी चाहिए थी ?"

मेजर चौधरी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले, "नहीं, प्रधान, उसे सजा नहीं मिली। मालूम नही वह मेरी भूल थी या नहीं, पर जीप में ले आनेके घंटा भर बाद मैंने उसे छोड़ दिया।"

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यों ?" फिर यह सोचकर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

"कारण ? हाँ, कारण था शायद। यह तो इसपर है कि कारण कहते किसे है। मैंने जैसे छोड़ा वह बताता हूँ।"

मै प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, "उसे मै जीपमे ले आया। थोड़ी देर टार्चका प्रकाश उसके चेहरेपर डालकर घूमता रहा कि वह और जरा सहम जाय। तब मैंने कड़ककर पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आई अपनी फौजका और ब्रिटेनका नाम कलङ्कित करते ? अभी परसों मैंने तुम्हें पकड़ा था और माफ कर दिया था।' मेरे स्वरका उसके नशेपर कुछ असर हुआ। जरा सँभलकर बोला, 'सर, मैं कुछ बुरा नहीं करना चाहता था—' मैंने फिर डाँटा, 'सड़कपर एक औरतको पकड़ते हो और कहते हो कि बुरा करना नहीं चाहते थे ?' वह बगले झाँकने लगा, पर फिर भी सफाई देता हुआ-सा बोला, 'सर, वह अच्छी औरत नहीं है। वह रुपया लेती है—मै तीन दिनसे रोज उसके पास आता हूँ।' मैंने सोचा, बेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे ? पर इस टामी जन्तुमे जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपनेको बड़ा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्गसे झरा हुआ फरिश्ता ?' वह वैसे ही बोला, 'नही सर, लेकिन—लेकिन—'

मैंने कहा, लेकिन क्या ? तुमने अपनी पल्टनका और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नहीं।' तभी मुझे उस औरतकी बात याद आई

कि यह कुछ घण्टे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भडक उठा। मैंने उससे कहा, 'थोडी देर पहले तुम एक बार बचकर चले भी गये थे, उससे तुम्हे सन्तोष नहीं हुआ? आगे गाँवमे कहा गये थे? एक बार काफी नही था।"

"अब तक वह कुछ और सँभल गया था। बोला, 'सर, गलती मैंने की है। लेकिन—लेकिन मे अपने साथियोसे बराबर होना चाहता हूँ—'

"मैंने चौंककर कहा, 'क्या मतलब?' "

"वह बोला, 'हमारा डिवीजन छः हफ्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते है। डेढ सालसे हमलोग फ्रटपर थे जहाँ ओरतका नाम नहीं, खाली मच्छड और कीचड और पेचिश होती है। वहाँसे मेरी पल्टन छः हफ्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकडीके साथ पीछे रह गया था।'

" 'तो फिर?' मैंने पूछा।"

"बोला, 'डिवीजनमे मेरी पल्टन सबसे पहले यहाँ आई थी, बाकी पल्टने पीछे आईं। छः हफ्तेसे वे लोग यहाँ है, और मैं कुल परसो आया हूँ और दस दिनमे हम लोग वापस चले जायेंगे।' "

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलब क्या है? उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे शिलंगके गाँवोकी, नेटिव बस्तियोकी छाँट उन्होंने की है। मे केवल परसो आया हूँ ओर दस दिन हमें और रहना है। मैं उनके बराबर होना चाहता हूँ, किसी—से पीछे मैं नहीं रहना चाहता।' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है! ऐसा विकृत तर्क वह कर कैसे सका—नशेका ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर इसे पेश कर सकनेमें मनुष्यसे नीचेके निरे मानव-जन्तुका साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-

बुद्धि है, और इसलिए उसपर विचार भी उसी तलपर होना चाहिए ऐसा मुझे लगा। समझ लो जन्तुने जन्तुको माफ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तुने जन्तुको अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुककर वह कहते गये, "यह भी मुझे लगा कि व्यक्तिमें ऐसी भावना पैदा करनेवाली सामूहिक मनःस्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा है तो समूहको ही दायी मानना चाहिए।"

स्टेशन वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नहीं। मेजर चौधरीने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसीलिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ—मेरा बिल्कुल दावा नहीं है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नहीं है कुछ कह देना—" और चुप लगा गया। अपने अनुभवकी भी एक घटना मुझे याद आई, उसे मैं मन ही मन दुहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या?"

"उसमें ऐसा तीखापन तो नहीं है, पर जन्तु-तर्ककी बात वहाँ भी लागू होती। एक दिन जोरहाटमें क्लबमें एक भारतीय नृत्य-मण्डली आई थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मडण्लीको और आगे लीडो रोड-की तरफ जाना था, इसलिए उसे एक ट्रकमें बिठाकर मरियानी स्टेशन भेजनेकी व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रकको स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

"ट्रकमें मण्डलीकी छहों लडकियाँ और साजिन्दे वगैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवरको चलनेको कहा। गाडीसे उडी हुई धूलको बैठ जानेके लिए कुछ समय देकर मैं भी जीपमें क्लबसे बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरीकी सडक थी, उसके बाद जब पक्की तारकोलकी सड़क आई और

धूल बन्द हो गई तो मैंने तेज बढ़कर ट्रकको पकड़ लेने की सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रककी पीठ दीखी, पर उसकी ओर देखने ही में चौंक गया।"

"क्यों, क्या बात हुई?"

"मैंने देखा, ट्रककी छत तक बाँहें फैलाये और पीठकी तख्तीके ऊपरी सिरेको दाँतोंसे पकड़े हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आकर देखा, एक बावर्दी गोरा था। उसके पैर किसी चीजपर टिके नहीं थे, बूट यों ही झूल रहे थे। क्षण भर तो मैं चकित सोचता ही रहा कि क्या दाँतों और नाखूनोंकी पकड़ इतनी मजबूत हो सकती है! फिर मैंने लपककर जीप उस ट्रकके बराबर करके ड्राइवरको रुक जाने को कहा।"

"फिर?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमीको नीचे उतारा। उसके हाथोंकी पकड़ इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उसकी उँगलियाँ सीधी नहीं हुई—वे जकड़ी-जकड़ी ही ऐंठ गई थीं! और गोरा नीचे उतरते ही जमीनपर ही ढेर हो गया।"

"जरूर पिये हुए होगा—"

"हाँ—एकदम धुत्! आँखोंकी पुतलियाँ बिल्कुल विस्फारित हो रही थीं, वह भौंचक्का-सा बैठा था। मैंने डपटकर उठाया तो लड़खड़ाकर खड़ा हो गया। मैंने पूछा, 'तुम ट्रकके पीछे क्यों लटके हुए थे?' तो बोला, 'सर, मैं लिफ्ट चाहता हूँ?' मैंने कहा, 'लिफ्टका यह कोई ढंग है? चलो, मेरी जीपमें चलो, मैं पहुँचा दूँगा। कहाँ जाना है तुम्हें?' इसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। हम लोग जीपमें घुसे, वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ा और पीछे सीटोंके बीचमें फर्शपर धपसे बैठ गया।

"हम चल पड़े। हठात् उसने पूछा, 'सर, आप स्कॉच हैं?' मैंने लक्ष्य किया कि नशेमें वह यह नहीं पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या

अंगरेज, पर इतना पहचानता है कि मैं अफसर हूँ और 'सर' कहना चाहिए। फौजी ट्रेनिग भी बडी चीज है जो नशेकी तहको भी भेद जाती है। खैर। मैंने कहा, 'नहीं, मैं स्कॉच नहीं हूँ।'

"वह जैसे अपनेसे ही बोला, 'डैम फाइन ह्विस्की।' और जबान चटखारने लगा। मैं पहले तो समझा नहीं, फिर अनुमान किया कि स्काच शब्दसे उसका मदसिक्त मन केवल ह्विस्कीका ही सम्बन्ध जोड सकता है तब मैंने कहा, 'हॉ। लेकिन तुम जाओगे कहॉ?"

"बोला, 'मुझे यहीं कहीं उतार दीजिए—जहॉ कहीं कोई नेटिव गॉव पास हो।' मैंने डपटकर कहा, 'क्यों, क्या मशा है तुम्हारा?' तब उसका स्वर अचानक रहस्य भग हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिए?' मैंने कहा, 'यहॉ कहॉ है औरत?' तो बोला, 'सर, मैं ढूँढ लूँगा, आप कहीं गॉव-चॉवके पास उतार दीजिए।' "

"फिर तुमने क्या किया?"

"मेरे जीमे तो आई कि दो थप्पड लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उसके 'मुझे औरत चाहिए' के निर्व्याज कथनने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्वके स्तरपर मानव ताडनीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सडकपर उसे उतार दिया—जहॉ आस-पास कहीं गॉवका नाम-निशान न हो और लौट जाना भी जरा मेहनत का काम हो। अबतक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे? दड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तुके साथ जन्तुतर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुण है, और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय है जो उस जन्तुत्वको पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देरतक चुप रहे। नाकाचारी चार-आली पार करके हमने नरियानीकी सडक पकड ली थी, कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नहीं, और हम पीछे धूलके बादल उड़ाते हुए जरा तेज चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिए।' मैं छुट्टीपर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टीपर। कम्पैशन यानी रहम—मुझपर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उस गोरेकी तरह हिर्स नहीं कर सकता कि मैं किसीके बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, हिर्स तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर!"

मैं चुपचाप आँखें सामने गडाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और मानता रहा कि मेजरका वह अजीब स्वरमें उच्चारित शब्द, 'घर!' गाडीकी घर्र-घर्रमें लीन हो जाय, उसे सुनने, सुनकर स्वीकारनेकी बाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक बार मैं ट्रेनसे आ रहा था तो उसी कम्पार्टमेंटमें छुट्टीसे लौटता हुआ एक पंजाबी सूबेदार-मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टीका अनुभव सुना रहा था। 'मैं ध्यान तो नहीं दे रहा था, पर अचानक एक बात मेरी चेतनापर अँक गई और उसकी स्मृति बनी रह गई। सूबेदार-मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नहीं थी, कुल दस दिनकी मंजूर हुई तो घरवाली को तारीखें लिखीं, पर उसका तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा पर उसने चिट्ठीमें लिखा था कि दस दिनकी छुट्टीमें तीन तो आने-जानेके, बाकी छः दिनमेंसे मैं नही चाहती कि तीन यों ही जाया हो जाय।' और इसपर उसके साथीने दबी ईर्ष्याके साथ कहा था, 'तकदीर वाले हो भाई...'"

मैंने कहा, "युद्धमें इनसान का गुण-दोष सब चरम रूप लेकर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते हैं तो मृत्युके मुखमें ले जाते हैं, दोष सुरक्षित लौटा लाते हैं। युद्धके खिलाफ यह कम बडी दलील नहीं है—प्रत्येक युद्धके बाद इनसान चारित्रिक दृष्टिसे और गरीब होकर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है—"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते हैं वे लौटते कहाँ हैं?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर बात मुँहसे निकल गई थी।

मेजर चौधरीकी पलकें एक बार सकुचकर फैल गईं, जैसे नश्तरके नीचे कोई अङ्ग होनेपर। उन्होंने सँभलकर बैठते हुए कहा, "थैंक यू, कैप्टेन प्रधान! हमलोग मरियानीके पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जाकर क्या करूँगा—"

तिराहेसे गाडी मैंने स्टेशनकी ओर मोड दी।

जय-दोल

●

लेफ्टिनेंट सागरने अपना कीचडसे सना चमडेका दस्ताना उतारकर, ट्रकके दरवाजेपर पटकते हुए कहा, 'गुरुंग, तुम गाडीके साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।

गुरुंग सडाकसे जूतोंकी एडियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब !"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिशके कारण नवगाँवमें रुके रहनेके बाद, दोपहरको थोडी देरके लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागरने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जानेके लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगोंकी चेतावनीको अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोचकर कि वह कम-से-कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पडा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गई थी, पर उसे शिवसागरके मन्दिर देखनेका इतना चाव था कि कि वह रुका नहीं, जल्दीसे चाय पीकर आगे चल पडा। रात जोरहाटमें रहे तो सवेरे चलकर सीधे डिब्रूगढ जाना होगा, रात शिवसागरमें रहकर सवेरे वह मन्दिर और तालको देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर. कैसे सुन्दर नाम है। सागर कहलाते हैं तो बडे-बडे ताल होंगे. और प्रत्येकके किनारेपर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा असमिया लोग है भी बडे साफ-सुथरे, उनके गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरोंका क्या कहना शिव-दोल, रुद्र-दोल, जय-दोल.. सागर-तटके मन्दिरको दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब तालके जलमें, मन्द मन्द हवासे सिहरती चाँदनीमें, मन्दिरकी कुहासे-सी परछाईं दोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा . इसी उत्साहको लिये वह बढता जा रहा था.. तीस-पैंतीस मीलका क्या है.. घण्टे भरकी बात है.

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाडी कच्ची सड़कके कीचड़में फँस गई, पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाडी नहीं नावकी पतवार हो, और नाव बड़ेसे भँवरमें हचकोले खाती झूम रही हो, फिर लेफ्टिनेंटके सँभालते-सँभालते गाडी धीमी होकर रुक गई, यद्यपि पहियोंके घूमते रहकर कीचड उछालनेकी आवाज़ आती रही .

इसके लिए साधारणत तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड साफ करनेकी कोशिश हुई लेकिन कीचड गहरा और पतला था, बेलचेका नहीं, पम्पका काम था! फिर टायरोंपर लोहेकी जंजीरें चढाई गईं। पहिये घूमने पर कहीं पकडनेको कुछ मिले तो गाडी आगे ठिले—मगर चलानेकी कोशिशपर लीक गहरी कटती गई और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचेका गीयर-बक्स भी कीचडमें डूबनेको हो गया.. मानो इतना काफी न हो, तभी इंजनने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया फिर स्टार्ट ही न हुआ

अँधेरेमें गुरुंगका मुँह नहीं दीखता था और लेफ्टिनेंटने मन-ही-मन सन्तोष किया कि गुरुंगको उसका मुँह भी नहीं दीखता होगा.. गुरुंग गोरखा था और फौजी गोरखोंकी भाषा कम-से-कम भावनाकी दृष्टिसे गूँगी होती है मगर आँखें या चेहरेकी झुर्रियाँ सब समय गूँगी नहीं होतीं . और इस समय, अगर उनमें लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावलीपर विनोदका आभास भी दीख गया, तो दोनोंमें मूक वैमनस्यकी एक दीवार खडी हो जायेगी.

तभी सागरने दस्ताने फेंककर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और पिच्च-पिच्च कीचडमें जमा-जमाकर बूट रखता हुआ आगे चढ़ चला।

कहनेको तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में? बादल फिर घिरने लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर

भी तीन चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नहीं, और जय-सागर तो बडे बीहड मैदानके बीचमे है उसने पढा था कि उस मैदानके बीचमे ही रानी जयमतीको यन्त्रणा दी गई थी कि वह अपने पतिका पता बता दे । पॉच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनो तक रानीको सारी जनताके सामने सताया और अपमानित किया गया था ।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाय । पर उस कीचडमे फिच-फिच सात मील ! उसीमें भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाडीके लिए वापस जाना पड़ेगा फिर नहीं, वह बेकार है । दूसरी सूरत रात गाडीमे ही सोया जा सकता है । पर गुरुग ? वह भूखा ही होगा कच्ची रसद तो होगीपर बनायेगा कैसे ? सागरने तो गहरा नाश्ता किया था, उसके पास बिस्कुट वगैरह भी है पर अफसरीका बडा कायदा है कि अपने मातहतका कमसे कम खाना तो ठीक खिलाये शायद आसपास कोई गॉव हो—

कीचडमे कुछ पता न लगता था कि सडक कितनी है और अगलबगलका मैदान कितना । पहले तो दो-चार पेड भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नही दोनो ओर सपाट सूना मैदान था, और दूरके पेड भी ऐसे धुंधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहो चश्मेपर नमीकी ही करामात तो नहीं है अब रास्ता जाननेका एक ही तरीका था, जहॉ कीचड कम गहरा हो वही सडक, इधर-उधर हटते ही पिंडलिया तक पानीमें डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे-धीरे पैरसे टटोलकर मध्यमे आ जाता था.

यह क्या है ? हॉ, पुल-सा है—यह रेलिंग है । मगर दो पुल है समकोण बनाते हुए .क्या दो रास्ते है ? कौन-सा पकड ?

एक कुछ ऊँची जमीनकी ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचेपर कीचड कम होगा, इस बातका ही आकर्षण काफी था, फिर ऊँचाईपरसे शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पडा। पुलके पार ही सडक एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी बन गई, तनिक आगे इसमे कई मोडसे आये, फिर जैसे धन-खेतोंमे कहीं-कहीं कई-एक छोटे-छोटे खेत एक-साथ पडनेपर उनकी मेंड़ मानो एक-साथ ही कई ओर जाती जान पडती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओरको जाती-सी जान पडी। सागर मानो एक बिन्दुपर खडा है, जहाँसे कई ओर कई रास्ते है, प्रत्येकके दोनों ओर जल.. मानो अथाह समुद्रमें पटरियाँ बिछा दी गई हो..

सागरने एक बार चारो ओर नजर दौडाई। शून्य। उसने फिर आँखोकी कोरें कसकर झाँककर देखा, बादलोकी रेखामे एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी.. बादल ऐसा समकोण नहीं हो सकता। नही, यह इमारत है...सागर उसी ओरको बढने लगा। रोशनी नहीं दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यो-ज्यों वह निकट जाता गया उसकी आशा धुँधली पडती गई। वह असमिया घर नही हो सकता—इतने बडे घर अब कहाँ है—फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूसके बासे ही हो सकते हैं, ईंटके घर नहीं—अरे यह तो कोई बडी इमारत है--क्या हो सकती है ?

मानो उसके प्रश्नके उत्तरमे ही सहसा आकाशमे बादल कुछ फीका पडा और सहसा धुँधला-सा चाँद भी झलक गया। उसके अधूरे प्रकाशमे सागरने देखा—एक बडी-सी, ऊपरसे चपटी-सी इमारत—मानो दुमजिली बारादरी.. बरामदेसे, जिसमें कई-एक महराबें; एकके बीचसे मानो आकाश झाँक दिया...

सागर ठिठककर क्षण भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारतको पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओंका

क्रीड़ा-भवन है—क्या नाम है?—रंग महल, नही, हवा-महल—नही, ठीक याद नही आता, पर यह उस बड़े पठारके किनारेपर है जिसमें जय-मती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पासके पानीमें जहाँ-तहाँ नर-सलके झोंप थे, झुककर फुसफुसा उठे, जैसे राजाके आनेपर भृत्यो-सेवकोंमें एक सिहरन दौड जाय एकाएक यह लक्ष्य करके कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागरने घूमकर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नही कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिसके नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली कि चाँद छिप गया, और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रग-महल या हवा-महल भी खो जाता .

महलमे छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद विस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रकसे तो यही अच्छा रहेगा—गाडीको तो कोई खतरा नहीं—

सागर जल्दी-जल्दी आगे बढने लगा।

रग-महल बहुत बडा हो गया था। उसकी कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उसकी ओट छिप जाये। पक्के फर्शपर पैर पडते ही सागरने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी .सीढियाँ चढकर वह असली ड्योढी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढते-चढते हवा चीख उठी। कई मेहराबोंसे मानो उसने गुर्राकर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भङ्ग करने वाले?" विरोधके फूत्कारका यह थपेडा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं—सागर, आसरा ढूँढता हूँ—रैनबसेरा—"

पोपले मुँहका बूढा जैसे खिखियाकर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। 'ही—ही—ही—खी—खी—खीः। यह हवा-महल है, हवा-महल—

'अहोम राजाका लीलागार—अहोम राजाका—व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियोंसे जीवनकी लिसटी चोटीसे छहों रसोंको चूसकर उसे झँझोड कर फेंक देनेवाले नृशंस लीलापिशाचों की—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा... ही—ही—ही—खी—खी—खीः।'

सीढ़ियोंकी चोटीसे मेहराबोंके तले खड़े सागरने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलोंसे, बादलोंमें बसी नमी और ज्वालासे, प्लवन वज्र और बिजलीसे भरा हुआ शून्य। क्या उसीकी गुर्राहट हवामें है, या कि नीचे फैले नंगे पठारकी, जिसके चूतडोंपर दिन भर सड़ासड़ पानीके कोड़ोंकी बौछार पड़ती रही है? उसी पठारका आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट?

इसी जगह, इसी मेहराबके नीचे खड़े कभी अधनंगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीरको दर्पसे अकड़ाकर, सितारकी खूँटीकी तरह उमेठकर, बायें हाथके अँगूठेको कमरबन्दमें अटकाकर, सीढ़ियोंपर खड़े क्षत-शरीर राजकुमारोंको देखा होगा, जैसे कोई साँड खसिया बैलो के झुण्डको देखे, फिर दाहिने हाथकी तर्जनीको उठाकर दाहिने भ्रूको तनिक-सा कुंचित करके, संकेतसे आदेश किया होगा कि यन्त्रणाको और कड़ी होने दो।

लेफ्टिनेंट सागरकी टाँगें मानो शिथिल हो गईं। वह सीढ़ीपर बैठ गया, पैर उसने नीचेको लटका दिये, पीठ मेहराबके निचले हिस्सेसे टेक दी। उसका शरीर थक गया था दिनभर स्टीयरिंगपर बैठे-बैठे और पौने दो सौ मीलतक बनी कीचडकी सड़कमें बनी लीकोंपर आखें जमाये रहनेसे आँखें भी ऐसे चुनचुना रही थीं मानो उनमें बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गई हो—आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करनेमें क्लेश भी हो—वह आँख खुली रखकर ही किसी तरह दीठको समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके, तो...

अहोम राजा चूलिक-फा राजामे ईश्वरका अंश होता है, ऐसे अन्धविश्वास पालनेवाली अहोम जातिके लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुलका अक्षतशरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिसके शरीरमे कोई क्षत है, उसमे देवत्वका अंश कैसे रह सकता है? देवत्व—और क्षुण्ण? नहीं। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है, और राज-शरीर अक्षत

अहोम परम्पराके अनुसार कुल-घातके सेतुसे पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासनपर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदाके लिए खुला रहे, इसके लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अत. सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उसके प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उनके निराकरणका उपाय यह है कि सबका एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाय—हत्या भी न करनी पड़े, मार्गके रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे सॉप भी मरे नहीं पर उसके विषदन्त उखड़ जाये। क्षत-शरीर कनकटे या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हे राज-घातका लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फाने सेनापतिको बुलाकर गुप्त आज्ञा दी कि रातमे चुप-चाप राज-कुलके प्रत्येक व्यक्तिके कान (या छिगुनी) काटकर प्रात.काल दरबारमे राज-चरणोंमे अर्पित किया जाय।

और प्रातःकाल वहीं, रंग-महलकी सीढियो पर, उसके चरणोंमे यह वीभत्स उपहार चढाया गया होगा—और उसने उसी दर्प-भरी अवज्ञा से, ओठोकी तार-सी तनी पतली रेखाको तनिक मोड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्तसने थालको पैरसे तनिक-सा ठुकरा दिया होगा।

चूलिक-फा—निष्कंटक राजा! लेकिन नहीं, यह तीर-सा कैसा साल गया? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत।

लेफ्टिनेंट सागर मानो चूलिक-फाके चीत्कारको स्पष्ट सुन सका। अक्षत ! भाग गया ?

वहाँ सामने—लेफ्टिनेंटने फिर आँखोंको कसकर बादलोंकी दरारको भेदनेकी कोशिश की—वहाँ सामने कहीं नगा पर्वत-श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियोंसे अहोम राजाओंकी कभी नहीं बनी—वे अपने पर्वतोंके नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमिके कौशेय पहनकर भी अध-नंगे रहनेवाले महाराजा, पीढियोंके युद्धके बाद दोनोंने अपनी-अपनी सीमाएँ बाँध ली थीं और कोई किसीसे छेड-छाड नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेशपर पडनेवाली नमककी झीलोंके लिए युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनोंको चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियोंके सरदारके पास आश्रय पाये—असह्य है ! असह्य !

हवाने सॉय-सॉय करके दाद दी...असह्य। मानो चूलिक-फाके विवश क्रोधकी लम्बी साँस सागरकी देहको छू गयी—यहीं खडे होकर तो उसने वह साँस खींची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंटमें तो उसके सुलगते वायु-कण बसे होंगे ?

लेकिन जायेगा कहाँ। उसकी वधू तो है ? वह जानेगी उसका पति कहाँ है.. उसे जानना होगा। जयमती अहोम राज्यकी अद्वितीय सुन्दरी—जनताकी लाडली—होने दो ! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु-विहीन निष्कंटक राज्य करना चाहता है ! जयमतीको पतिका पता देना होगा—उसे पकडवाना होगा—चूलिक-फा उसका प्राण नहीं चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बायें हाथकी भी छिगुनी। क्यों नहीं बतायेगी जयमती ? वह प्रजा है, प्रजाकी हड्डी-बोटीपर भी राजाका अधिकार है !

बहुत ही छोटे एक क्षणके लिए चाँद झलक गया। सागरने देखा, सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार; जिसमें

नरसलोंकी सॉय-सॉय, हवाका असख्य कराहटोके साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहराबोंकी क्रुद्ध सॉपोंकी-सी फुँफकार चॉद फिर छिप गया और पानीकी नई बौछारके साथ सागरने ऑखे बन्द कर लीं असख्य सहमी हुई कराहें, और पानीकी मार ऐसे जैसे नगे चूतडोपर स-दिया प्रान्तके लचीले बेतोंकी सडाक्-सडाक् । स-दिया अर्थात् शव-दिया, कब्र किसका शव वहॉ मिलता था याद नही आता,पर था शव जरूर—किसका शव .

नहीं, जयमतीका नहीं। वह तो—वह तो उन पॉच लाख बेबस देखने वालोंके सामने एक लकडीके मचपर खडी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जामे, अभेद्य मौनमे, अटूट सकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धामे लिपटी हुई, सात दिनकी भूखी-प्यासी, घाम और रक्तकी कीचसे लथपथ, लेकिन शेषनागके माथेमे ठुकी हुई कीलीकी भॉति अडिग, आकाशको छूनेवाली प्रातः शिखा-सी निष्कम्प.

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिलाकर उठ बैठा। मानो अँधेरेमे मुतही-सी दीख पडनेवाली वह लाखोकी भीड भी कॉपकर फिर जड हो गई—जयमतीके गलेसे एक बडी तीखी करुण चीख निकलकर भारी वायु-मडलको भेद गई—जैसे किसी थुलथुल कछुएके पेटको मछेरेकी बर्छी सागरने बडे जोरसे मुट्ठियॉ भींच ली क्या जयमती टूट गई ? नहीं, यह नहीं हो सकता, नरसलोकी तरह बिना रीढके गिरती-पडती इस लाख जनताके बीच वही तो देवदारु-सी तनी खडी है, मानवताकी ज्योति शलाका

सहसा उसके पीछेसे एक दस, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसीसे पीतलकी तरह झनझनाते स्वरने कहा, "मै राजा हूँ।"

सागरने चौंककर मुडकर देखा—सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सानेकी कठी और बडे-बडे अनगढ पन्नोकी माला पहने भी अधनगा एक व्यक्ति उसकी ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञासे देख रहा था, जैसे कोई राह

किनारेके कृमि-कीटको देखे। उसका सुगठित शरीर, छेनीसे तराशी हुई चिकनी मांस-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ, तेलसे चमक रही थीं, आँखोंकी कोरमें लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त-पिपासा भी

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हुँ., जयमती !" अंगूठे और तर्जनीकी चुटकी बनाकर उसने झटक दी, मानो हाथका मैल कोई मसलकर फेंक दे। बिना क्रियाके भी वाक्य सार्थक होता है, कम-से-कम राजाका वाक्य .

सागरने कहना चाहा, "नृशंस ! राक्षस !" लेकिन उसकी आँखोंकी लालीमें एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागरने उसकी दृष्टिका अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गई थी। चीखनेके बाद उसका शरीर ढीला होकर लटक गया था, कोड़ोंकी मार रुक गई थी, जनता साँस रोके सुन रही थी...

सागरने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धतामें उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमतीके सामने एक नगा बाँका खड़ा था, सिरपर कलगी, गलेमें लकड़ीके मुंडोंकी माला, मुँहपर रंगकी व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमरमें घासकी चटाईकी कौपीन, हाथमें बर्छा। और वह जयमतीसे कुछ कह रहा था।

सागरके पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फाके विधानमें हस्तक्षेप करनेवाला यह ढीठ नगा कौन है ?" पर सहसा उस नगे व्यक्तिका स्वर सुनाई पड़ने लगा और सब चुप हो गये.

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हें देवी मानती है। पर और अपमान क्यों सहो ? राजाका बल अपार है—कुमारका पता बता दो और मुक्ति पाओ !"

अबकी बार रानी चीखी नहीं। शिथिल-शरीर, फिर एकबार कराहकर रह गई।

नगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमारके प्राण नहीं। एक कान दे देनेमें क्या है? या छिगुनी? उतना तो कभी खेलमे या मल्ल-युद्धमें भी जा सकता है।"

रानीने कोई उत्तर नही दिया।

"चुलिक-फा डरपोक है, डर नृशंस होता है। पर तुम कुमारका पता बताकर अपनी मान-रक्षा और पतिकी प्राण-रक्षा कर सकती हो।"

सागरने पीछे सुना, "हुँः", और मुडकर देखा, उस व्यक्तिके चेहरेपर एक क्रूर कुटिल मुसकान खेल रही है।

सागरने उद्धत होकर कहा, "हुँ. क्या?"

वह व्यक्ति तनकर खडा हो गया, थोडी देर सागरकी ओर देखता रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे? फिर और भी कुटिल ओठोंके बीचसे बोला, "मैं, चूलिक-फा, डरपोक! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे कामकी कह रहा है—"

नगा वीर जयमतीके और निकट जाकर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। चूलिक-फाने भौ सिकोडकर कहा, "क्या फुसफुसा रहा है?"

सागरने आगे झुककर सुन लिया।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सरदारके पास सुरक्षित है। चूक्लि-फा तो उसे पकड ही नहीं सकता, तुम पता बताकर अपनी रक्षा क्यो न करो? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेशमे सागर खडा हो गया, क्योकि उस कोमल देहमे एक बिजली-सी दौड गई और उसने तनकर, सहसा नगा वीरकी ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक—तुम नगा कैसे हुए? कुमार तो अमर है, कीडा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुयेगा? मगर क्या लोग कहेगे, कुमारकी रानी

बुरमर्तोंने देहकी यन्त्रणासे घबडाकर उसका पता बता दिया ? हट जाओ, अपना कलङ्की मुँह मेरे सामनेसे दूर करो !"

जनतामें तीव्र सिहरन दौड गई। नरसल बडी जोरसे काँप गये; गँदले पानीमें एक हलचल उठी जिसके लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये, हवा फुँफकार उठी, बडे जोरकी गडगडाहट हुई। मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणाकी रात—सातवीं रात, कि नवीं रात ? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उसके दृढ सङ्कल्पका मौन है, कि अशक्तताका ? और यह वही भीड है कि नई भीड, वही नगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीडमें कई नगे बिखरे हैं..

चूलिक-फाने कटु स्वरमें कहा, "फिर आया वह नगा ?"

नगा वीरने पुकारकर कहा, "जयमती ! रानी जयमती !"

रानी हिली-डुली नहीं।

वीर फिर बोला, "रानी ! मैं उसी नगा सरदारका दूत हूँ, जिसके यहाँ कुमारने शरण ली है। मेरी बात सुनो।"

रानीका शरीर काँप गया। वह एकटक आँखोंसे उसे देखने लगी, कुछ बोली नहीं। सकी नहीं।

"तुम कुमारका पता दे दो। सरदार उसकी रक्षा करेंगे। वह सुरक्षित है।"

रानीकी आँखोंमें कुछ घना हो आया। बडे कष्टसे उसने कहा, "नीच !" एक बार उसने ओठोंपर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा, पर सकी नहीं।

चूलिक-फाने वहींसे आदेश दिया, "पानी दो इसे—बोलने दो !"

किसीने रानीके ओठोंकी ओर पानी बढाया। वह थोडी देर मिट्टीके कसोरेकी ओर वितृष्ण दृष्टिसे देखती रही, फिर उसने आँख भरकर नगा युवककी

ओर देखा, फिर एक घूँट पी लिया। तभी चूलिक-फाने कहा "बस एक-एक घूँट, अधिक नहीं!"

रानीने एक बार दृष्टि चारो ओर लाख-लाख जनताकी ओर दौडाई।

फिर आँखें नगा युवकपर गडाकर बोली, "कुमार सुरक्षित है। और कुमारकी यह लाख-लाख प्रजा—जो उनके लिए आँखे बिछाये है—एक नेताके लिए जिसके पीछे चलकर आततायीका राज्य उलट दे—जो एक आदर्श माँगती है—मै उसकी आशा तोड दूँ—उसे हरा दूँ—कुमार को हरा दूँ।"

वह क्षण भर चुप हुई। चूलिक-फाने एक बार आँख दौडाकर सारी भीडको देख लिया। उसकी आँख कहीं टिकी नहीं . मानो उस भीडमें उसे टिकने लायक कुछ नहीं मिला, जैसे रेंगते कीडोपर दीठ नहीं जमती

नगाने कहा, "प्रजा तो राजा चुलिक-फाकी है न?"

रानीने फिर उसे स्थिर दृष्टिसे देखा। फिर धीरे-धीरे कहा, "चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भावसे नाम अधूरा छोड दिया कि उसके उच्चारणसे मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमारकी है—जाकर नगा सरदारसे कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गई। पर तू—तू तो नगा नहीं, तू तो उस—उस गिद्धकी प्रजा है—जा उसके गन्दे पजेको चाट!

रानीकी आँखें चूलिक-फाकी ओर मुडीं पर उसकी दीठने उसे छुआ नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीजकी ओर आँखें चढानेमें भी घिन आती है.

नगाने मुसकराकर कहा, "कहाँ है मेरा राजा!"

चूलिक-फाने वहींसे पुकारकर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्यका एकछत्र शासक!"

नगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागरने देखा, भीडका रग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीडमें जगह-जगह नगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपनमें भी एक माप...

नगाने पाससे कहा, "मेरे राजा !'

एकाएक बड़े जोरकी गडगडाहट हुई। सागर खडा हो गया...उसने आँखें फाडकर देखा, नगा युवक सहसा बर्छीके सहारे कई-एक सीढियाँ फाँदकर चूलिक-फाके पास पहुँच गया है, बर्छी सीढीकी ईंटोंकी दरारमें फँसी रह गई है, पर नगा चूलिक-फा को धक्केसे गिराकर उसकी छातीपर चढ गया है, उधर जनतामें एक बिजली कडक गई है, "कुमारकी जय !" किसीने फाँदकर मचपर चढकर कोडा लिये जल्लादोंको गिरा दिया है, किसीने अपना अग-वस्त्र जयमतीपर डाला है और कोई उसके बन्धनकी रस्सी टटोल रहा है

पर चूलिक-फा और नगा.. सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खडा था, उसकी दीठ चूलिक-फापर जमी थी सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पडे चूलिक-फाके हाथमें एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगाके कानके पीछे साध रहा है—नगाको ध्यान नहीं है, मगर चूलिक-फाकी आँखोंमें पहचान है कि नगा और कोई नहीं, स्वय कुमार है, और वह डाओ साध रहा है.

कुमार छातीपर है, पर मर जायगा . या क्षत भी हो गया तो . चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक-फाका हाथ पकड लेगा . डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानीसे उछला था, उसका कीचड-सना बूट सीढ़ी पर फिसल गया और वह लुढकता-पुढकता नीचे जा गिरा।

अब ? चूलिक-फाका हाथ सध गया है, डाओपर उसकी पकड खडी हो गई है, अब—

लेफ्टिनेंट सागरने वहीं पड़े-पड़े कमरसे रिवाल्वर खींचा और शिस्त लेकर दाग दिया धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यों नहीं ? आग लग गई—रग-महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड रही है। क्या चूलिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमारकी जयध्वनि है ? कि जयमती की—यह अद्भुत, रोमाचकारी गूँज, जिसमें मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नहीं, उसे सँभलना होगा।

× × ×

लेफ्टिनेंट सागर सहसा जागकर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का होकर चारों ओर देखा, फिर उसकी बिखरी चेतना केन्द्रित हो गई। दूरसे दो ट्रकोंकी दो जोडी बत्तियाँ पूरे प्रकाशसे जगमगा रही थीं, और एकसे सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रग-महलकी सीढियों को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलोसे पृथ्वीतक किसी वज्रदेवताके उतारनेका मार्ग खुल जाता है। दोनो ट्रकोके हार्न पूरे जोरसे बजाये जा रहे थे।

बौछारसे भीगा हुआ बदन झाडकर लेफ्टिनेंट सागर उठ खडा हुआ। क्या वह रग-महलकी सीढियोंपर सो गया था ? एक बार आँखे दौडाकर उसने मेहराबको देखा, चाँद निकल आया था, मेहराबकी ईंटें दीख रहीं थीं। फिर धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचेसे आवाज आई, "सा'ब, दूसरा गाडी आ गया, ढो करके ले जायगा।"

सागरने मुँह उठाकर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस ताल चमक रहा था, जिसके किनारेपर मन्दिर भागते बादलोंके बीचमें काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनीसे ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानीके अभिमानका प्रतीक, जिसने राजाको बचाया, या एक नारीके साहसका, जिसने पुरुषका पथ-प्रदर्शन किया, या कि मानवमात्रकी अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणाका अभीत, अजेय, जय-दोल?